पत्रिका नं० ३०

# जैन साहित्य की प्रगति

१९४६—५१

पण्डित श्री सुखलालजी संघवी

जैन संस्कृति संशोधन मण्डल,
P. O. बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी

नवम्बर १९५१ आठ आना

## निवेदन

अक्तूबर ३, ४, ५, सन् १९५१ में लखनऊ में होने वाले ओरिएन्टल कोन्फरेन्स के सोलहवें अधिवेशन के 'प्राकृत और जैनधर्म' विभाग के अध्यक्ष पद से पंडित श्री सुखलालजी ने जो व्याख्यान दिया था उसे इस पत्रिका में दिया जा रहा है। इस व्याख्यान में पंडितजी ने अनेकान्तवाद और सप्तभंगी के विषय में अपने मौलिक विचार प्रकट करने के साथ ही गत दो-ढाई वर्षों में जो जैनधर्म और प्राकृत भाषा से सम्बद्ध साहित्य प्रकाशित हुआ है उसमें से महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की समालोचना करके जैन संशोधन के क्षेत्र में जो प्रगति हुई है उसकी विवेचना भी की है। तदुपरांत मुनि श्री पुण्य विजय जी के जेसलमेर भांडार के उद्धार कार्य का और आगम और आगमेतर साहित्य के संशोधन का सुसंकलितरूप से निर्देश कर दिया है। इससे संशोधक विद्वानों को संशोधन कार्य की दिशा का पता चलेगा, इतना ही नहीं किन्तु अब उक्त भांडार गत अपनी अभीष्ट पुस्तक प्राप्त करने की भी जो सरलता हुई है उसका पता चलेगा। ऐसे व्याख्यानों का तात्कालिक उपयोग अधिक होता है अतएव हमने 'श्रमण' के सहकार से इस व्याख्यान को शीघ्र ही संशोधक विद्वानों के सामने अविकल रूप से उपस्थित कर देना उचित समझा है। 'श्रमण' के सहकार के लिए मैं 'श्रमण' के व्यवस्थापक और संपादकों का आभार मानता हूँ। तथा श्री पंडित जी ने जो अपने व्याख्यान की अग्रिम नकल दी एतदर्थ उनका भी आभार मानता हूँ।

४-११-५१

दलसुख मालवणिया
मंत्री
जैन संस्कृति संशोधन मंडल

# ओरिएण्टल कान्फरेंस लखनऊ के सोलहवें अधिवेशन पर प्राकृत तथा जैन तत्त्वज्ञान विभाग

के अध्यक्ष

## पण्डित श्री सुखलालजी संघवी

का

## अभिभाषण

**समानशील मित्रगण !**

मैं आभारविधि व लाचारी प्रदर्शन के उपचार से प्रारंभ में ही छुट्टी पा लेता हूँ। इससे हम सभी का समय बच जायगा।

आप को यह जान कर दुःख होगा कि इसी लखनऊ शहर के श्री अजित प्रसाद जी जैन अब हमारे बीच नहीं रहे। उन्होंने गोम्मटसार जैसे कठिन ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद किया। और वे जैन गजट के अनेक वर्षों तक संपादक रहे। उनका अदम्य उत्साह हम सब में हो ऐसी भावना के साथ उनकी आत्मा को शान्ति मिले यही प्रार्थना है। सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् श्री सागरानंद सूरि का इसी वर्ष स्वर्गवास हो गया है। उन्हों ने अपनी सारी जिंदगी अनेकविध पुस्तक प्रकाशन में लगाई। उन्हीं की एकाग्रता तथा कार्य परायणता से आज विद्वानों को जैन साहित्य का बहुत बड़ा भाग सुलभ है। वे अपनी धुन में इतने पक्के थे कि आरंभ किया काम अकेले हाथ से पूरा करने में भी कभी नहीं हिचके। उनकी चिर-साहित्योपासना हमारे बीच विद्यमान है। हम सभी साहित्य-संशोधन प्रेमी उनके कार्य का मूल्यांकन कर सकते हैं। हम उनकी समाहित आत्मा के प्रति अपना हार्दिक आदर प्रकट करें।

जैन विभाग से संबद्ध विषयों पर सन् १९४१ से अभी तक चार प्रमुखों के भाषण हुए हैं। डॉ० ए. एन्. उपाध्ये का भाषण जितना विस्तृत है उतना ही अनेक मुद्दों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालने वाला है। उन्हों ने प्राकृत भाषा का सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से तथा शुद्ध भाषातत्त्व के अभ्यास की दृष्टि से क्या स्थान है इसकी गंभीर व विस्तृत चर्चा की है। मैं इस विषय में अधिक

न कह कर केवल इससे संबद्ध एक मुद्दे पर चर्चा करूँगा। वह है भाषा की पवित्रापवित्रता की मिथ्या भावना।

## शास्त्रीय भाषाओं के अभ्यास के विषय में—

मैं शुरू में पुरानी प्रथा के अनुसार काशी में तथा अन्यत्र जब उच्च कक्षा के साहित्यिक व आलंकारिक विद्वानों के पास पढ़ता था तब अलंकार नाटक आदि में आने वाले प्राकृत गद्य-पद्य का उनके मुँह से वाचन सुन कर विस्मित सा हो जाता था, यह सोच कर कि इतने बड़े संस्कृत के दिग्गज पंडित प्राकृत को यथावत् पढ़ भी क्यों नहीं सकते? विशेष अचरज तो तब होता था जब वे प्राकृत गद्य-पद्य का संस्कृत छाया के सिवाय अर्थ ही नहीं कर सकते थे। ऐसा ही अनुभव मुझ को प्राकृत व पाली के पारदर्शी पर एकांगी श्रमणों के निकट भी हुआ है, जब कि उन्हें संस्कृत भाषा में लिखे हुए अपने परिचित विषय को ही पढ़ने का अवसर आता। धीरे धीरे उस अचरज का समाधान यह हुआ कि वे पुरानी एकांगी प्रथा से पढ़े हुए हैं। पर यह त्रुटि जब यूनिवर्सिटी के अध्यापकों में भी देखी तब मेरा अचरज द्विगुणित हो गया। हम भारतीय जिन पाश्चात्य विद्वानों का अनुकरण करते हैं उनमें यह त्रुटि नहीं देखी जाती। अतएव मैं इस वैषम्य के मूल कारण की खोज करने लगा तो उस कारण का कुछ पता चल गया जिसका सूचन करना भावी सुधार की दृष्टि से अनुपयुक्त नहीं।

जैन आगम भगवती में कहा गया है कि अर्धमागधी देवों की भाषा है।[1] बौद्ध पिटकमें भी बुद्ध के मुख से कहलाया गया है कि बुद्ध वचन को प्रत्येक देश के लोग अपनी अपनी भाषा में कहें[2], उसे संस्कृत बद्ध करके सीमित करने की आवश्यकता नहीं। इसी तरह पतंजलि ने महाभाष्य में संस्कृत शब्दानुशासन के प्रयोजनों को दिखाते हुए कहा है कि "न म्लेच्छितवै नापभाषितवै"[3] अर्थात् ब्राह्मण अपभ्रंश का प्रयोग न करे। इन सभी कथनों से आपाततः ऐसा जान पड़ता है कि मानों जैन व बौद्ध प्राकृतभाषा को देववाणी मान कर संस्कृत का तिरस्कार करते हैं या महाभाष्यकार संस्कृतेतर भाषा को अपभाषा कह कर तिरस्कृत करते हैं। पर जब आगे पीछे के संदर्भ

---

१. भगवती श० ५, उ० ४। प्रज्ञापना-प्रथम पद में मागधी को आर्य भाषा कहा है। २. चुल्लवग्ग-खुद्दक-वत्थुखन्ध-बुद्धवचननिरुत्ति।
३. महाभाष्य पृ० ४९।



व विवरण तथा तत्कालीन प्रथा के आधार पर उन कथनों की गहरी जाँच की तो स्पष्ट प्रतीत हुआ कि उस जमाने में भाषाद्वेष का प्रश्न नहीं था किन्तु अपने शास्त्र की भाषा की संस्कार शुद्धि की रक्षा करना, इसी उद्देश्य से शास्त्रकार चर्चा करते थे। इस सत्य की प्रतीति तब होती है जब हम भर्तृहरि को 'वाक्यपदीय' में साधु-असाधु शब्दों के प्रयोग की चर्चा-प्रसंग में अपभ्रंश व असाधु कहे जाने वाले शब्दों को भी अपने वर्तुल में साधु बतलाते हुए पाते हैं।[1] इसी प्रकार जब आचार्य आर्यरक्षित 'अनुयोगद्वार' में[2] संस्कृत-प्राकृत दोनों उक्तिओं को प्रशस्त बतलाते हैं, व वाचक उमास्वाति आर्यभाषा रूप से किसी एक भाषा का निर्देश न करके केवल इतना ही कहते हैं कि जो भाषा स्पष्ट और शुद्ध रूप से उच्चारित हो और लोक संव्यवहार साध सके वह आर्य भाषा,[3] तब हमें कोई संदेह नहीं रहता कि अपने अपने शास्त्र की मुख्य भाषा की शुद्धि की रक्षा की ओर ही तात्कालिक परम्परागत विद्वानों का लक्ष्य था।

पर उस सांप्रदायिक एकांगी आत्मरक्षा की दृष्टि में धीरे धीरे ऊँच नीच भाव के अभिमान का विष दाखिल हो रहा था। हम इसकी प्रतीति सातवीं शताब्दी के आसपास के ग्रन्थों में स्पष्ट पाते हैं।[4] फिर तो भोजन, विवाह, व्यवसाय आदि व्यवहार क्षेत्र में जैसे ऊँच-नीच भाव का विष फैला वैसे ही शास्त्रीय भाषाओं के वर्तुल में भी फैला। अलंकार, काव्य, नाटक आदि के अभ्यासी विद्यार्थी व पंडित उनमें आने वाले प्राकृत भागों को छोड़ तो सकते न थे, पर वे विधिवत् आदरपूर्वक अध्ययन करने के संस्कार से भी वंचित थे। इसका फल यह हुआ कि बड़े बड़े प्रकाण्ड गिने जाने वाले संस्कृत के दार्शनिक व साहित्यिक विद्वानों ने अपने विषय से संबद्ध प्राकृत व पाली साहित्य को छुआ तक नहीं। यही स्थिति पाली पिटक के एकांगी अभ्यासियों की भी रही। उन्होंने भी अपने अपने विषय से संबद्ध महत्त्वपूर्ण संस्कृत साहित्य की यहाँ तक उपेक्षा की कि अपनी ही परंपरा में बने हुए संस्कृत वाङमय से भी वे बिलकुल अनजान रहे।[5] इस विषय में जैन परंपरा की स्थिति उदार रही है, क्योंकि आ० आर्यरक्षित ने तो संस्कृत-प्राकृत दोनों का समान रूप

---

१. वाक्यपदीय प्रथम काण्ड, का० २४८-२५६। २. अनुयोगद्वार पृ० १३१। ३. तत्त्वार्थभाष्य ३. १५। ४. "असाधुशब्दभूयिष्ठाः शाक्यजैनागमादयः" इत्यादि, तंत्रवार्तिक पृ० २३७

५. उदाहरणार्थ-सीलोन, बर्मा आदि के भिक्खु महायान के संस्कृत ग्रन्थों से अछूता हैं।

से मूल्य आँका है। परिणाम यह है कि वाचक उमास्वाति के समय से आज तक के लगभग १५०० वर्ष के जैन विद्वान संस्कृत और प्राकृत वाङमय का तुल्य आदर करते आए हैं। और सब विषय के साहित्य का निर्माण भी दोनों भाषाओं में करते आए हैं।

इस एकांगी अभ्यास का परिणाम तीन रूपों में हमारे सामने है। पहला तो यह कि एकांगी अभ्यासी अपने सांप्रदायिक मन्तव्य का कभी कभी यथावत् निरूपण ही नहीं कर पाता। दूसरा यह कि वह अन्य मत की समीक्षा अनेक बार गलत धारणाओं के आधार पर करता है। तीसरा रूप यह है कि एकांगी अभ्यास के कारण संबद्ध विषयों व ग्रन्थों के अज्ञान से ग्रन्थगत पाठ ही अनेक बार गलत हो जाते हैं। इसी तीसरे प्रकार की ओर प्रो० विधुशेखर शास्त्री ने ध्यान खींचते हुए कहा है कि "प्राकृत भाषाओं के अज्ञान तथा उनकी उपेक्षा के कारण 'वेणी संहार' में कितने ही पाठों की अव्यवस्था हुई है।"[1] पंडित बेचरदासजी ने 'गुजराती भाषानी उत्क्रान्ति' में पृ० १०० टि० ६२ में शिवराम म० प्रांजपे संपादित 'प्रतिमा नाटक' का उदाहरण देकर वही बात कही है। राजशेखर की 'कर्पूर मंजरी' के टीकाकार ने अशुद्ध पाठ को ठीक समझ कर ही उसकी टीका की है। डा० ए. एन. उपाध्येने भी अपने वक्तव्य में प्राकृत भाषाओं के यथावत् ज्ञान न होने के कारण संपादकों व टीकाकारों के द्वारा हुई अनेकविध भ्रान्तिओं का निदर्शन किया है।

विश्वविद्यालय के नए युग के साथ ही भारतीय विद्वानों में भी संशोधन की तथा व्यापक अध्ययन की महत्त्वाकांक्षा व रुचि जगी। वे भी अपने पुरोगामी पाश्चात्य गुरुओं की दृष्टि का अनुसरण करने की ओर झुके व अपने देश की प्राचीन प्रथा को एकांगिता के दोष से मुक्त करने का मनोरथ व प्रयत्न करने लगे। पर अधिकतर ऐसा देखा जाता है कि उनका मनोरथ व प्रयत्न अभी तक सिद्ध नहीं हुआ। कारण स्पष्ट है। कॉलेज व यूनिवर्सिटी की उपाधि लेकर नई दृष्टि से काम करने के निमित्त आए हुए विश्वविद्यालय के अधिकांश अध्यापकों में वही पुराना एकांगी संस्कार काम कर रहा है। अतएव ऐसे अध्यापक मुंह से तो असांप्रदायिक व व्यापक तुलनात्मक अध्ययन की बात करते हैं पर उनका हृदय उतना उदार नहीं है। इससे हम विश्वविद्यालय के वर्तुल में एक विसंवादी चित्र पाते हैं। फलतः विद्यार्थियों का नया जगत् भी समीचीन दृष्टि-लाभ न होने से दुविधा में ही अपने अभ्यास को एकांगी व विकृत बना रहा है।

१. 'पाली प्रकाश' प्रवेशक पृ० १८, टि० ४२।



हमने विश्वविद्यालय के द्वारा पाश्चात्य विद्वानों की तटस्थ समालोचना मूलक प्रतिष्ठा प्राप्त करनी चाही पर हम भारतीय अभी तक अधिकांश में उससे वंचित ही रहे हैं। वेबर, मेक्समूलर, गायगर, लोयमन, पिशल, जेकोबी, ओल्डनबर्ग, शार्पेन्टर, सिल्वन लेवी आदि गत युग के तथा डॉ० थॉमस, बेईल, बरो, शुब्रिंग, आल्सडोर्फ, रेनु आदि वर्तमान युग के संशोधक विद्वान् आज भी संशोधनक्षेत्र में भारतीयों की अपेक्षा ऊँचा स्थान रखते हैं। इसका कारण क्या है इस पर हमें यथार्थ विचार करना चाहिए। पाश्चात्य विश्वविद्यालय का पाठ्यक्रम सत्यशोधक वैज्ञानिक दृष्टि के आधार पर रखा जाता है। इससे वहाँ के विद्वान् सर्वांगीण दृष्टि से भाषाओं तथा इतर विषयों का अध्ययन करते कराते हैं। वे हमारे देश की रूढ़प्रथा के अनुसार केवल सांप्रदायिक व संकुचित दायरे में बद्ध होकर न तो भाषाओं का एकांगी अध्ययन करते हैं और न इतर विषयों का ही। अतएव वे कार्यकाल में किसी एक ही क्षेत्र को क्यों न अपनावें पर उनकी दृष्टि व कार्यपद्धति सर्वांगीण होती है। वे अपने संशोधन क्षेत्र में सत्यलक्षी ही रह कर प्रयत्न करते हैं। हम भारतीय संस्कृति की अखण्डता व महत्ता की डींग हाँकें और हमारा अध्ययन–अध्यापन व संशोधन विषयक दृष्टिकोण खंडित व एकांगी हो तो सचमुच हम अपने आप ही अपनी संस्कृति को खंडित व विकृत कर रहे हैं।

एम० ए०, डॉक्टरेट जैसी उच्च उपाधि लेकर संस्कृत साहित्य पढ़ाने वाले अनेक अध्यापकों को आप देखेंगे कि वे पुराने एकांगी पंडितों की तरह ही प्राकृत का न तो सीधा अर्थ कर सकते हैं, न उसकी शुद्धि-अशुद्धि पहचानते हैं, और न छाया के सिवाय प्राकृत का अर्थ भी समझ सकते हैं। यही दशा प्राकृत के उच्च उपाधिधारकों की है। वे पाठ्यक्रम में नियत प्राकृतसाहित्य को पढ़ाते हैं तब अधिकांश में अंग्रेजी भाषान्तर का आश्रय लेते हैं, या अपेक्षित व पूरक संस्कृत ज्ञान के अभाव के कारण किसी तरह कक्षा की गाड़ी खींचते हैं। इससे भी अधिक दुर्दशा तो 'एन्श्यन्ट इन्डियन हिस्ट्री एन्ड कल्चर' के क्षेत्र में कार्य करने वालों की है। इस क्षेत्र में काम करने वाले अधिकांश अध्यापक भी प्राकृत-शिलालेख, सिक्के आदि पुरातत्त्वीय सामग्री का उपयोग अंग्रेजी भाषान्तर द्वारा ही करते हैं। वे सीधे तौर से प्राकृत भाषाओं के न तो मर्म को पकड़ते है और न उन्हें यथावत् पढ़ ही पाते हैं। इसी तरह वे संस्कृत भाषा के आवश्यक बोध से भी वंचित होने के कारण अंग्रेजी भाषान्तर पर ही निर्भर रहते हैं। यह कितने दुःख व लज्जा की बात है कि पाश्चात्य

संशोधक विद्वान अपने इस विषय के संशोधन व प्रकाशन के लिए अपेक्षित सभी भाषाओं का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करने की पूरी चेष्टा करते हैं तब हम भारतीय घर की निजी सुलभ सामग्री का भी पूरा उपयोग नहीं कर पाते।

इस स्थिति में तत्काल परिवर्तन करने की दृष्टि से अखिल भारतीय प्राच्य विद्वत्परिषद् को विचार करना चाहिए। मेरी राय में उसका कर्तव्य इस विषय में विशेष महत्त्व का है। वह सभी भारतीय विश्वविद्यालयों को एक प्रस्ताव के द्वारा अपना सुझाव पेश कर सकती है जो इस मतलब का हो—

"कोई भी संस्कृत भाषा का अध्यापक ऐसा नियुक्त न किया जाय जिसने प्राकृत भाषाओं का कम से कम भाषादृष्टि से अध्ययन न किया हो। इसी तरह कोई भी प्राकृत व पाली भाषा का अध्यापक ऐसा नियुक्त न हो जिसने संस्कृत भाषा का अपेक्षित प्रामाणिक अध्ययन न किया हो।"

इसी तरह प्रस्ताव में पाठ्यक्रम संबन्धी भी सूचना हो वह इस मतलब की कि—

"कॉलेज के स्नातक तक के भाषा विषयक अभ्यास क्रम में संस्कृत व प्राकृत दोनों का साथ साथ तुल्य स्थान रहे, जिससे एक भाषा का ज्ञान दूसरी भाषा के ज्ञान के बिना अधूरा न रहे। स्नातक के विशिष्ट(आनर्स)अभ्यास क्रम में तो संस्कृत, प्राकृत व पाली भाषाओं के सह अध्ययन की पूरी व्यवस्था करनी चाहिए। जिससे विद्यार्थी आगे के किसी कार्यक्षेत्र में परावलम्बी न बने।"

उक्त तीनों भाषाओं एवं उनके साहित्य का तुलनात्मक व कार्यक्षम अध्ययन होने से स्वयं अध्येता व अध्यापक दोनों का लाभ है। भारतीय संस्कृति का यथार्थ निरूपण भी संभव है और आधुनिक संस्कृत-प्राकृत मूलक सभी भाषाओं के विकास की दृष्टि से भी वैसा अध्ययन बहुत उपकारक है।

## उल्लेख योग्य दो प्रवृत्तियाँ—

डॉ॰उपाध्ये ने आगमिक साहित्य के संशोधित संपादन की ओर अधिकारियों का ध्यान खींचते हुए कहा है कि—

"It is high time now for the Jaina Community and the orientalists to collaborate in order to bring forth a standard edition of the entire Ardhamāgadhi canon with the available Nijjuttis and Cūrṇis on an uniform plan. It would be a solid foundation for all further studies. Pischel did think of a Jaina Text Society at the beginning of this century; in 1914, on the eve of his departure from India, Jacobi announced that an edition of the Siddhānta, the text of which can lay a claim to finality, would only be possible by using the old palm-leaf Mss. from the Patan Bhandāras, and only four years back Dr. Schubring also stressed this very point."



निःसंदेह आगमिक साहित्य के प्रकाशन के वास्ते भिन्न भिन्न स्थानों में अनेक वर्षों से आज तक अनेक प्रयत्न हुए हैं। वे प्रयत्न कई दृष्टि से उपयोगी भी सिद्ध हुए हैं तो भी प्रो॰ जाकोबी और डॉ॰ शुब्रिंग ने जैसा कहा है वैसे ही संशोधित संपादन की दृष्टि से एक अखण्ड प्रयत्न की आवश्यकता आज तक बनी हुई है। डॉ॰ पिशल ने इस शताब्दी के प्रारंभ में ही सोचा था कि 'पाली टेक्स्ट सोसायटी' जैसी एक 'जैन टेक्स्ट सोसायटी' की आवश्यकता है। हम सभी प्राच्यविद्या के अभ्यासी और संशोधन में रस लेने वाले भी अनेक वर्षों से ऐसे ही आगमिक साहित्य तथा इतर जैन साहित्य के संशोधित संस्करण के निमित्त होने वाले सुसंवादी प्रयत्न का मनोरथ कर रहे थे। हर्ष की बात है कि पिशल आदि की सूचना और हम लोगों का मनोरथ अब सिद्ध होने जा रहा है। इस दिशा में भगीरथ प्रयत्न करने वाले वे ही मुनि श्री पुण्यविजय जी हैं जिनके विषय में डॉ॰ उपाध्ये ने दश वर्ष पहिले कहा था—

"He (late Muni Shri Chaturavijayaji) has left behind a worthy and well trained pupil in Shri Punyavijayaji who is silently carrying out the great traditions of learning of his worthy teacher."

मैं मुनि श्री पुण्यविजय जी के निकट परिचय में ३६ वर्ष से सतत रहता आया हूँ। उन्होंने लीम्बड़ी, पाटन, बड़ौदा आदि अनेक स्थानों के अनेक भंडारों को सुव्यवस्थित किया है और सुरक्षित बनाया है। अनेक विद्वानों के लिए संपादन-संशोधन में उपयोगी हस्तलिखित प्रतियों को सुलभ बनाया है। उन्होंने स्वयं अनेक महत्त्व के संस्कृत प्राकृत ग्रन्थों का संपादन भी किया है। इतने लम्बे और पक्व अनुभव के बाद ई॰ स॰ १९४५ में "जैन आगम संसद" की स्थापना करके वे अब जैनागमों के संशोधन में उपयोगी देश-विदेश में प्राप्य समग्र सामग्री को जुटाने में लग गए हैं। मैं आशा करता हूँ कि उनके इस कार्य से जैनागमों की अन्तिम रूप में प्रामाणिक आवृत्ति हमें प्राप्त होगी। आगमों के संशोधन की दृष्टि से ही वे अब अपना विहारक्रम और कार्यक्रम बनाते हैं। इसी दृष्टि से वे पिछले वर्षों में बड़ौदा, खंभात, अहमदाबाद

आदि स्थानों में रहे और वहाँ के भंडारों को यथासंभव सुव्यवस्थित करने के साथ ही आगमों के संशोधन में उपयोगी बहुत कुछ सामग्री एकत्र की है। पाटन, लीम्बड़ी, भावनगर आदि के भंडारों में जो कुछ है वह तो उनके पास संगृहीत था ही। उसमें बड़ोदा आदि के भंडारों से जो मिला उससे पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हुई है। इतने से भी वे संतुष्ट न हुए और स्वयं जैसलमेर के भंडारों का निरीक्षण करने के लिए अपने दलबल के साथ ई० १९५० के प्रारंभ में पहुँच गए। जैसलमेर में जाकर शास्त्रोद्धार और भंडारों का उद्धार करने के लिए उन्होंने जो किया है उसका वर्णन यहाँ करना संभव नहीं। मैं ने अपने व्याख्यान के अंत में उसे परिशिष्ट रूप से जोड़ दिया है।

उस सामग्री का महत्त्व अनेक दृष्टि से है। 'विशेषावश्यक भाष्य', 'कुवलयमाला', 'ओघनिर्युक्ति वृत्ति' आदि अनेक ताड़पत्रीय और कागजी ग्रन्थ ९०० वर्ष तक के पुराने और शुद्धप्रायः हैं। इसमें जैन परंपरा के उपरान्त बौद्ध और ब्राह्मण परंपरा की भी अनेक महत्त्वपूर्ण पोथियाँ हैं। जिनका विषय काव्य, नाटक, अलंकार, दर्शन आदि है। जैसे-'खण्डन-खण्ड-खाद्य शिष्य हितैषिणी वृत्ति'—टिप्पण्यादि से युक्त, 'न्यायमंजरी-ग्रन्थिभंग', 'भाष्यवार्तिक-विवरण पंजिका', पंजिका सह 'तत्त्वसंग्रह' इत्यादि। कुछ ग्रन्थ तो ऐसे हैं जो अपूर्व हैं—जैसे 'न्यायटिप्पणक'-श्रीकंठीय, 'कल्पलताविवेक' (कल्पपल्लवशेष), बौद्धाचार्यकृत 'धर्मोत्तरीय टिप्पण' आदि।

सोलह मास जितने कम समय में मुनि श्री ने रात और दिन, गरमी और सरदी का जरा भी ख़याल बिना किये जैसलमेर दुर्गके दुर्गम स्थान के भंडारों के अनेकांगी जीर्णोद्धार के विशालतम कार्य के वास्ते जो उग्र तपस्या की है उसे दूर बैठे शायद ही कोई पूरे तौर से समझ सके। जैसलमेर के निवास दरमियान मुनि श्री के काम को देखने तथा अपनी अपनी अभिप्रेत साहित्यिक कृतिओं की प्राप्ति के निमित्त इस देश के अनेक विद्वान तो वहाँ गए ही पर विदेशी विद्वान् भी वहाँ गए। हेम्बर्ग यूनिवर्सिटी के प्रसिद्ध प्राच्यविद्याविशारद डॉ० आल्सडोर्फ़ भी उनके कार्य से आकृष्ट होकर वहाँ गए और उन्होंने वहाँ की प्राच्य वस्तु व प्राच्य साहित्य के सैकड़ों फोटो भी लिए।

मुनि श्री के इस कार्य में उनके चिरकालीन अनेक साथिओं और कर्मचारिओं ने जिस प्रेम व निरीहता से सतत कार्य किया है और जैन संघ ने जिस उदारता से इस कार्य में यथेष्ट सहायता की है वह सराहनीय होने के साथ साथ मुनि श्री की साधुता, सहृदयता व शक्ति का द्योतक है।



मुनि श्री पुण्यविजय जी का अभी तक का काम न केवल जैन परंपरा से ही सम्बन्ध रखता है और न केवल भारतीय संस्कृति से ही संबंध रखता है, बल्कि मानव संस्कृति की दृष्टि से भी वह उपयोगी है। जब मैं यह सोचता हूँ कि उनका यह कार्य अनेक संशोधक विद्वानों के लिए अनेकमुखी सामग्री प्रस्तुत करता है और अनेक विद्वानों के श्रम को बचाता है तब उनके प्रति कृतज्ञता से हृदय भर आता है।

संशोधनरसिक विद्वानों के लिए स्फूर्तिदायक एक अन्य प्रवृत्ति का उल्लेख भी मैं यहाँ उचित समझता हूँ। आचार्य मल्लवादी ने विक्रम छठी शताब्दी में 'नयचक्र' ग्रन्थ लिखा है। उसके मूल की कोई प्रति लब्ध नहीं है। सिर्फ उसकी सिंहगणि-क्षमाश्रमण कृत टीका की प्रति उपलब्ध होती है। टीका की भी जितनी प्रतियाँ उपलब्ध हैं वे प्रायः अशुद्ध ही मिली हैं। इस प्रकार मूल और टीका दोनों का उद्धार अपेक्षित है। उक्त टीका में वैदिक, बौद्ध और जैन ग्रन्थों के अवतरण विपुल मात्रा में हैं। किन्तु उनमें से बहुत ग्रन्थ अप्राप्य हैं। सद्भाग्य से बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बती और चीनी भाषान्तर उपलब्ध है। जब तक इन भाषान्तरों की सहायता न ली जाय तब तक यह ग्रन्थ शुद्ध हो ही नहीं सकता, यह उस ग्रन्थ के बड़ौदा गायकवाड़ सिरीज से प्रकाशित होने वाले और श्री लब्धिसूरि ग्रन्थ माला से प्रकाशित हुए संस्करणों के अवलोकन से स्पष्ट हो गया है। इस वस्तुस्थिति का विचार करके मुनि श्री जम्बूविजय जी ने इसी ग्रन्थ के उद्धार निमित्त तिब्बती भाषा सीखी है और उक्त ग्रन्थ में उपयुक्त बौद्ध ग्रन्थों के मूल अवतरण खोज निकालने का कार्य प्रारंभ किया है। मेरी राय में प्रामाणिक संशोधन की दृष्टि से मुनि श्री जम्बूविजय जी का कार्य विशेष मूल्य रखता है। आशा है वह ग्रन्थ थोड़े ही समय में अनेक नए ज्ञातव्य तथ्यों के साथ प्रकाश में आएगा।

## उल्लेख योग्य प्रकाशन कार्य—

पिछले वर्षों में जो उपयोगी साहित्य प्रकाशित हुआ है किन्तु जिनका निर्देश इस विभागीय प्रमुख के द्वारा नहीं हुआ है, तथा जो पुस्तकें अभी प्रकाशित नहीं हुई हैं पर शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली हैं उन सबका नहीं परन्तु उनमें से चुनी हुई पुस्तकों का नाम निर्देश अन्त में मैंने परिशिष्ट में ही करना उचित समझा है। यहाँ तो मैं उनमें से कुछ ग्रन्थों के बारे में अपना विचार प्रकट करूँगा।

जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर द्वारा प्रकाशित दो ग्रन्थ खास महत्त्व के हैं। पहला है 'यशस्तिलक एण्ड इन्डियन् कल्चर्'। इसके लेखक हैं प्रोफेसर के० के० हाण्डीकी। श्री हाण्डीकी ने ऐसे संस्कृत ग्रन्थों का किस प्रकार अध्ययन किया जा सकता है उसका एक रास्ता बताया है। यशस्तिलक के आधार पर तत्कालीन भारतीय संस्कृति के सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि पहलुओं से संस्कृति का चित्र खींचा है। लेखक का यह कार्य बहुत समय तक बहुतों को नई प्रेरणा देने वाला है। दूसरा ग्रन्थ है 'तिलोयपण्णत्ति' द्वितीय भाग। इसके संपादक हैं ख्यातनामा प्रो० हीरालाल जैन और प्रो० ए. एन्. उपाध्ये। दोनों संपादकों ने हिन्दी और अंग्रेजी प्रस्तावना में मूलसम्बद्ध अनेक ज्ञातव्य विषयों की सुविशद चर्चा की है।

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, अपने कई प्रकाशनों से सुविदित है। मैं इसके नये प्रकाशनों के विषय में कहूँगा। पहला है 'न्यायविनिश्चय विवरण' प्रथम भाग। इसके संपादक हैं प्रसिद्ध पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य। अकलंक के मूल और वादिराज के विवरण की अन्य दर्शनों के साथ तुलना करके संपादक ने ग्रन्थ का महत्त्व बढ़ा दिया है। ग्रन्थ की प्रस्तावना में संपादक ने स्याद्वादसंबंधी विद्वानों के भ्रमों का निरसन करने का प्रयत्न किया है। उन्हीं का दूसरा संपादन है तत्त्वार्थ की 'श्रुतसागरी टीका'। उसकी प्रस्तावना में अनेक ज्ञातव्य विषयों की चर्चा सुविशद रूप से की गई है। खास कर 'लोक वर्णन और भूगोल' संबंधी भाग बड़े महत्त्व का है। उसमें उन्होंने जैन, बौद्ध, वैदिक परंपरा के मन्तव्यों की तुलना की है। ज्ञानपीठ का तीसरा प्रकाशन है—'समयसार' का अंग्रेजी अनुवाद। इसके संपादक हैं वयोवृद्ध विद्वान् प्रो० ए. चक्रवर्ती। इस ग्रन्थ की भूमिका जैन दर्शन के महत्त्वपूर्ण विषयों से परिपूर्ण है। पर उन्होंने शंकराचार्य पर कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र के प्रभाव की जो संभावना की है वह चिन्त्य है।[1] इसके अलावा 'महापुराण' का नया संस्करण हिन्दी अनुवाद के साथ भी प्रकाशित हुआ है। अनुवादक हैं श्री पं० पन्नालाल, साहित्याचार्य। संस्कृत-प्राकृत छन्दःशास्त्र के सुविद्वान् प्रो० एच्. डी. वेलणकर ने सभाष्य 'रत्नमंजूषा' का संपादन किया है। इस ग्रन्थ में उन्होंने टिप्पण भी लिखा है।

आचार्य श्री मुनि जिनविजय जी के मुख्य संपादकत्व में प्रकाशित होने वाली 'सिंघी जैन ग्रन्थ माला' से शायद ही कोई विद्वान् अपरिचित हो।

१. देखो, प्रो० विमलदास कृत समालोचना; ज्ञानोदय—सितम्बर १९५१।



पिछले वर्षों में जो पुस्तकें प्रसिद्ध हुई हैं उनमें से कुछ का परिचय देना आवश्यक है। 'न्यायावतार-वार्तिक-वृत्ति' यह जैन न्याय विषयक ग्रन्थ है। इसमें मूल कारिकाएँ सिद्धसेन कृत हैं। उनके ऊपर पद्यबद्ध वार्तिक और उसकी गद्य वृत्ति शान्त्याचार्य कृत हैं। इसका संपादन पं० दलसुख मालवणिया ने किया है। संपादक ने जो विस्तृत भूमिका लिखी है उसमें आगम काल से लेकर एक हजार वर्ष तक के जैन दर्शन के प्रमाण-प्रमेय विषयक चिन्तन का ऐतिहासिक व तुलनात्मक निरूपण है। ग्रन्थ के अन्त में संपादक ने अनेक विषयों पर टिप्पण लिखे हैं जो भारतीय दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करने वालों के लिए ज्ञातव्य हैं।

प्रो० दामोदर धर्मानन्द कोसंबी संपादित 'शतकत्रयादि', प्रो० अमृतलाल गोपाणी संपादित 'भद्रबाहु संहिता', आचार्य जिनविजयजी संपादित 'कथा कोष-प्रकरण', मुनि श्री पुण्यविजय जी संपादित 'धर्माभ्युदय महाकाव्य' इन चार ग्रन्थों के प्रास्ताविक व परिचय में साहित्य, इतिहास तथा संशोधन में रस लेने वालों के लिए बहुत कीमती सामग्री है।

'षट्खण्डागम' की 'धवला' टीका के नव भाग प्रसिद्ध हो गए हैं। यह अच्छी प्रगति है। किन्तु 'जयधवला' टीका के अभी तक दो ही भाग प्रकाशित हुए हैं। आशा की जाती है कि ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन में शीघ्रता होगी। भारतीय ज्ञानपीठ ने 'महाबंध' का एक भाग प्रकाशित किया किन्तु इसकी भी प्रगति रुकी हुई है। यह भी शीघ्रता से प्रकाशित होना जरूरी है।

'यशोविजय जैनग्रन्थ माला' पहले काशी से प्रकाशित होती थी। उसका पुनर्जन्म भावनगर में स्व० मुनि श्री जयन्तविजय जी के सहकार से हुआ है। उस ग्रन्थमाला में स्व० मुनि श्री जयन्तविजय जी के कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उनका निर्देश करना आवश्यक है। "तीर्थराज आबु" यह 'आबु' नाम से प्रथम प्रकाशित पुस्तक का तृतीय संस्करण है। इसमें ८० चित्र हैं। और संपूर्ण आबु का पूरा परिचय है। इस पुस्तक की यह भी एक विशेषता है कि आबु के प्रसिद्ध मंदिर विमल वसही और लूणिग वसही में उत्कीर्ण कथा-प्रसंगों का पहली बार यथार्थ परिचय कराया गया है। 'अर्बुदाचल प्राचीन जैन लेख संदोह' यह भी उक्त मुनि जी का ही संपादन है। इसमें आबु में प्राप्त समस्त जैन शिलालेख सानुवाद दिये गए हैं। इसके अलावा इसमें अनेक उपयोगी परिशिष्ट भी हैं। उन्हीं की एक अन्य पुस्तक 'अचलगढ़' है जिसकी

द्वितीय आवृत्ति हाल में ही हुई है। उन्हीं का एक और ग्रन्थ 'अर्बुदाचल प्रदक्षिणा' भी प्रकाशित हुआ है। इसमें आबु पहाड़ के और उसके आस-पास के ९७ गाँवों का वर्णन है, चित्र हैं और नक्शा भी दिया हुआ है। इसी का सहचारी एक और ग्रन्थ भी मुनि जी ने 'अर्बुदाचल प्रदक्षिणा जैन लेख संदोह' नाम से संपादित किया है। इसमें प्रदक्षिणा गत गाँवों के शिलालेख सानुवाद हैं। ये सभी ग्रन्थ ऐतिहासिकों के लिए अच्छी खोज की सामग्री उपस्थित करते हैं।

वीरसेवा मंदिर, सरसावा के प्रकाशनों में से 'पुरातन जैन वाक्य सूची' प्रथम उल्लेख योग्य है। इसके संग्राहक-संपादक हैं वयोवृद्ध कर्मठ पंडित श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार। इसमें मुख्तार जी ने दिगम्बर प्राचीन प्राकृत ग्रन्थों की कारिकाओं की अकारादि-क्रम से सूची दी है। संशोधक विद्वानों के लिए बहुमूल्य पुस्तक है। उन्हीं मुख्तार जी ने 'स्वयंभूस्तोत्र' और 'युक्त्यनुशासन, का भी अनुवाद प्रकाशित किया है। संस्कृत नहीं जानने वालों के लिए श्री मुख्तार जी ने यह अच्छा संस्करण उपस्थित किया है। इसी प्रकार मंदिर की ओर से पं० श्री दरबारी लाल कोठिया कृत 'आप्तपरीक्षा' का हिन्दी अनुवाद भी प्रसिद्ध हुआ है। वह भी जिज्ञासुओं के लिए अच्छी सामग्री उपस्थित करता है।

'श्री दिगम्बर जैन क्षेत्र श्री महावीर जी' यह एक तीर्थ रक्षक संस्था है किन्तु उसके संचालकों के उत्साह के कारण उसने जैन साहित्य के प्रकाशन के कार्य में भी रस लिया है और दूसरी वैसी संस्थाओं के लिए भी वह प्रेरणादायी सिद्ध हुई है। उस संस्था की ओर से प्रसिद्ध आमेर (जयपुर) भंडार की सूची प्रकाशित हुई है। और 'प्रशस्तिसंग्रह' नाम से उन हस्तलिखित प्रतियों के अंत में दी गई प्रशस्तिओं का संग्रह भी प्रकाशित हुआ है। उक्त सूची से प्रतीत होता है कि कई अपभ्रंश ग्रन्थ अभी प्रकाशन की राह देख रहे हैं। उसी संस्था की ओर से जैनधर्म के जिज्ञासुओं के लिए छोटी छोटी पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं। 'सर्वार्थ सिद्धि' नामक 'तत्त्वार्थसूत्र' की व्याख्या का संक्षिप्त संस्करण भी प्रकाशित हुआ है।

माणिकचन्द्र दि० जैन-ग्रन्थ माला, बंबई की ओर से कवि हस्तिमल्ल के शेष दो नाटक 'अंजना-पवनंजय नाटक and सुभद्रा नाटिका' के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। उनका संपादन प्रो० एम्. वी. पटवर्धन ने एक विद्वान् को शोभा देने वाला किया है। ग्रन्थ की प्रस्तावना से प्रतीत होता है कि संपादक संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ पंडित हैं।



वीर शासन संघ, कलकत्ता की ओर से "The Jaina Monuments and Places of First class Importance" यह ग्रन्थ श्री टी० एन्० रामचन्द्र द्वारा संगृहीत होकर प्रकाशित हुआ है। श्री रामचन्द्र इसी विषय के मर्मज्ञ पंडित हैं अतएव उन्होंने अपने विषय को सुचारु रूप से उपस्थित किया है। लेखक ने पूर्वबंगाल में जैनधर्म—इस विषय पर उक्त पुस्तक में जो लिखा है वह विशेषतया ध्यान देने योग्य है।

डॉ० महाण्डले ने 'Historical Grammar of Inscriptional Prakrits (पूना १९४८) में प्रमुख प्राकृत शिलालेखों की भाषा का अच्छा विश्लेषण किया है। और अभी अभी Dr. Bloch ने 'Les Inscriptions d' Asoka (Paris 1950) में अशोक के शिलालेखों की भाषा का अच्छा विश्लेषण किया है।

भारतीय पुरातत्त्व के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० बिमलाचरण लॉ ने कुछ जैन सूत्रों के विषय में लेख लिखे थे। उनका संग्रह 'सम जैन केनोनिकल सूत्राज्' इस नाम से रॉयल एशियाटिक सोसायटी की बंबई शाखा की ओर से प्रसिद्ध हुआ है। जैन सूत्रों के अध्ययन की दिशा इन लेखों से प्राप्त होती है। लेखक ने इस पुस्तक में कई बातें ऐसी भी लिखी हैं जिनसे सहमत होना संभव नहीं।

प्रो० कापड़िया ने गुजराती भाषा में 'पाइय भाषाओ अने साहित्य' नामक एक छोटी सी पुस्तिका लिखी है। इसमें ज्ञातव्य सभी बातों के समावेश का प्रयत्न होने से पुस्तिका उपयोगी सिद्ध हुई है। किन्तु इसमें भी कई बातें ऐसी लिखी हैं जिनकी जाँच होना जरूरी है। उन्होंने जो कुछ लिखा है उसमें बहुत सा ऐसा भी है जो उनके पुरोगामी लिख चुके हैं किन्तु प्रो० कापड़िया ने उनका निर्देश नहीं किया।

जैन मूर्तियों पर उत्कीर्ण लेखों का एक संग्रह 'जैन धातु प्रतिमा लेख' नाम से मुनि श्री कान्तिसागर जी के द्वारा संपादित होकर सूरत से प्रकाशित हुआ है। इसमें तेरहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक के लेख हैं।

जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद भी एक पुरानी प्रकाशक संस्था है। यद्यपि इसके प्रकाशन केवल पुरानी शैली से ही होते रहते हैं तथापि उसके द्वारा प्रकाशित प्राचीन और नव निर्मित अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन अभ्यासी के लिए उपेक्षणीय नहीं है।

जैन कल्चरल रिसर्च सोसायटी, बनारस को स्थापित हुए सात वर्ष हुए हैं। उसने इतने अल्प काल में तथा अतिपरिमित साधनों की हालत में संशोधनात्मक दृष्टि से लिखी गई जो अनेक पत्रिकाएँ तथा कई पुस्तकें हिन्दी व अंग्रेजी में प्रसिद्ध की हैं एवं भिन्न भिन्न विषय के उच्च उच्चतर अभ्यासिओं को तैयार करने का प्रयत्न किया है वह आशास्पद है। डॉ० नथमल टाटिया का D. Litt. उपाधि का महानिबन्ध 'स्टडीज् इन् जैन फिलॉसॉफी' छपकर तैयार है। इस निबन्ध में डॉ० टाटिया ने जैन दर्शन से सम्बद्ध तत्त्व, ज्ञान, कर्म, योग जैसे विषयों पर विवेचनात्मक व तुलनात्मक विशिष्ट प्रकाश डाला है। शायद अंग्रेजी में इस ढंग की यह पहली ही पुस्तक है।

आचार्य हेमचन्द्र कृत 'प्रमाण-मीमांसा' मूल और हिन्दी टिप्पणियों के साथ प्रथम सिंघी सिरीज में प्रकाशित हो चुकी है। पर उसका प्रामाणिक अंग्रेजी अनुवाद न था। इस अभाव की पूर्ति डॉ० सातकोडी मुखर्जी और डॉ० नथमल टाटिया ने की है। 'प्रमाण-मीमांसा' के प्रस्तुत अनुवाद द्वारा जैन दर्शन व प्रमाण शास्त्र की परिभाषाओं के लिए अंग्रेजी समुचित रूपान्तर की सामग्री उपस्थित की गई हैं, जो अंग्रेजी द्वारा शिक्षा देने और पाने वालों की दृष्टि से बहुत उपकारक है।

प्रो० भोगीलाल सांडेसरा का Ph. D. का महानिबन्ध 'कन्ट्रीब्यूशन टु संस्कृत लिटरेचर ऑफ वस्तुपाल एण्ड हिज़ लिटरेरी सर्कल' प्रेस में है और शीघ्र ही सिंघी सिरीज से प्रकाशित होने वाला है। यह निबन्ध साहित्यिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से जितना गवेषणापूर्ण है उतना ही महत्त्व का भी है।

प्रो० विलास आदिनाथ संघवे ने Ph. D. के लिए जो महानिबन्ध लिखा है उसका नाम है Jaina Community—A Social Survey—इस महानिबन्ध में प्रो० संघवे ने पिछली जनगणनाओं के आधार पर जैन संघ की सामाजिक परिस्थिति का विवेचन किया है। साथ ही जैनों के सिद्धान्तों का भी संक्षेप में सुंदर विवेचन किया है। यह ग्रन्थ 'जैन कल्चरल रिसर्च सोसायटी' की ओर से प्रकाशित होगा। उसी सोसाइटी की ओर से डॉ० बागची की पुस्तक Jain Epistemology छप रही है।

डॉ० जगदीशचन्द्र जैन Ph. D. की पुस्तक 'लाईफ़ इन् एन्शन्ट इण्डिया, एज़ डिपिक्टेड इन जैन केनन्स्', बंबई की न्यू बुक कंपनी ने प्रकाशित की है। न केवल जैन परंपरा के बल्कि भारतीय परंपरा के अभ्यासियों एवं संशोधकों



के सम्मुख बहुत उपयोगी सामग्री उक्त पुस्तक में है। उन्हीं की एक हिन्दी पुस्तक 'भारत के प्राचीन जैन-तीर्थ' शीघ्र ही 'जैन कल्चरल् रिसर्च सोसायटी' से प्रकाशित हो रही है।

गुजरात विद्यासभा (भो० जे० विद्याभवन) अहमदाबाद की ओर से तीन पुस्तकें यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होने वाली हैं जिनमें से पहली है—'गणधरवाद'—गुजराती भाषान्तर। अनुवादक पं० दलसुख मालवणिया ने इसका मूल पाठ जेसलमेर स्थित सबसे अधिक पुरानी प्रति के आधार से तैयार किया है और भाषान्तर के साथ महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना भी जोड़ी है। 'जैन आगममां गुजरात' और 'उत्तराध्ययन' का पूर्वार्ध-अनुवाद, ये दो पुस्तकें डॉ० भोगीलाल सांडेसरा ने लिखी हैं। प्रथम में जैन आगमिक साहित्य में पाये जाने वाले गुजरात संबंधी उल्लेखों का संग्रह व निरूपण है और दूसरी में उत्तराध्ययन मूल की शुद्ध वाचना के साथ उसका प्रामाणिक भाषान्तर है।

श्री साराभाई नवाब, अहमदाबाद के द्वारा प्रकाशित निम्नलिखित पुस्तकें अनेक दृष्टियों से महत्त्व की हैं—'कालकाचार्य कथासंग्रह' संपादक पं० अंबालाल प्रेमचन्द्र शाह। इसमें प्राचीन काल से लेकर मध्यकाल तक लिखी गई कालकाचार्य की कथाओं का संग्रह है और उनका सार भी दिया हुआ है। ऐतिहासिक गवेषकों के लिए यह पुस्तक महत्त्व की है। डॉ० मोतीचन्द्र की पुस्तक—'जैन मिनियेचर पेइन्टिंग्ज फ्रॉम वेस्टर्न इण्डिया' यह जैन हस्तलिखित प्रतों में चित्रित चित्रों के विषय में अभ्यासपूर्ण है। उसी प्रकाशक की ओर से 'कल्पसूत्र' शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है। इसका संपादन श्री मुनि पुण्यविजय जी ने किया है और गुजराती अनुवाद पं० बेचरदास जी ने।

मूलरूप में पुराना, पर इस युग में नये रूप से पुनरुज्जीवित एक साहित्य संरक्षक मार्ग का निर्देश करना उपयुक्त होगा। यह मार्ग है शिला व धातु के ऊपर साहित्य को उत्कीर्ण करके चिरजीवित रखने का। इसमें सबसे पहले पालीताना के आगममंदिर का निर्देश करना चाहिए। उसका निर्माण जैन साहित्य के उद्धारक, समस्त आगमों और आगमेतर सैकड़ों पुस्तकों के संपादक आचार्य सागरानन्द सूरि जी के प्रयत्न से हुआ है। उन्होंने ऐसा ही एक दूसरा मंदिर सूरत में भी बनवाया है। प्रथम में शिलाओं के ऊपर और दूसरे में ताम्रपटों के ऊपर प्राकृत जैन आगमों को उत्कीर्ण किया गया है। हम लोगों के दुर्भाग्य से ये साहित्यसेवी सूरि अब हमारे बीच नहीं हैं। ऐसा ही प्रयत्न षट्खंडागम की सुरक्षा का हो रहा है। वह भी ताम्रपट पर उत्कीर्ण

हो रहा है। किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक तरीके का उपयोग तो मुनि श्री पुण्य विजय जी ने ही किया है। उन्होंने जैसलमेर के भंडार की कई प्रतिओं का सुरक्षा और सर्व सुलभ करने की दृष्टि से माइक्रोफिल्मिंग कराया है।

संशोधकों व ऐतिहासिकों का ध्यान खींचने वाली एक नई संस्था का अभी प्रारंभ हुआ है। राजस्थान सरकार ने मुनि श्री जिन विजय जी की अध्यक्षता में 'राजस्थान पुरातत्त्व मंदिर' की स्थापना की है। राजस्थान में सांस्कृतिक व ऐतिहासिक अनेकविध सामग्री बिखरी पड़ी है। इस संस्था द्वारा वह सामग्री प्रकाश में आएगी तो संशोधन क्षेत्र का बड़ा उपकार होगा।

प्रो० एच० डी० वेलणकर ने हरितोषमाला नामक ग्रन्थ माला में 'जयदामन्' नाम से छन्दःशास्त्र के चार प्राचीन ग्रन्थ संपादित किये हैं। 'जयदेव छन्दस्', जयकीर्ति कृत–'छन्दोनुशासन', केदार का 'वृत्तरत्नाकर', और आ० हेमचन्द्र का 'छन्दोनुशासन' इन चार ग्रन्थों का उसमें समावेश हुआ है।

'Studien zum Mahanisiha' नाम से हेमबर्ग से अभी अभी एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसमें महानिशीथ नामक जैन छेदग्रन्थ के छठे से आठवें अध्ययन तक का विशेषरूप से अध्ययन Frank Richard Hamn और डॉ० शुब्रिंगने करके अपने अध्ययन का जो परिणाम हुआ उसे लिपिबद्ध कर दिया है।

## जैन दर्शन—

जैन दर्शन से सम्बन्ध रखने वाले कुछ ही मुद्दों पर संक्षेप में विचार करना यहाँ इष्ट है। निश्चय और व्यवहार नय जैन परम्परा में प्रसिद्ध हैं, विद्वान लोग जानते हैं कि इसी नय विभाग की आधारभूत दृष्टि का स्वीकार इतर दर्शनों में भी है। बौद्ध दर्शन बहुत पुराने समय से परमार्थ और संवृति इन दो दृष्टियों से निरूपण करता आया है।[1] शांकर वेदान्त की पारमार्थिक तथा व्यावहारिक या मायिक दृष्टि प्रसिद्ध है। इस तरह जैन-जैनेतर दर्शनों में परमार्थ या निश्चय और संवृति या व्यवहार दृष्टि का स्वीकार तो है, पर उन दर्शनों में उक्त दोनों दृष्टियों से किये जाने वाला तत्त्वनिरूपण बिल्कुल जुदा जुदा है। यद्यपि जैनेतर सभी दर्शनों में निश्चय दृष्टि सम्मत तत्त्वनिरूपण एक नहीं है, तथापि सभी मोक्षलक्षी दर्शनों में निश्चय दृष्टि सम्मत आचार व चारित्र एक ही है, भले ही परिभाषा वर्गीकरण आदि भिन्न हों।[2]

---

१. कथावत्थु, माध्यमक कारिका आदि।

२. चतुःसत्य, चतुर्व्यूह, व आस्रव-बंधादि चतुष्क।



यहाँ तो यह दिखाना है कि जैन परम्परा में जो निश्चय और व्यवहार रूप से दो दृष्टियाँ मानी गई हैं वे तत्त्वज्ञान और आचार दोनों क्षेत्रों में लागू की गई हैं। इतर सभी भारतीय दर्शनों की तरह जैनदर्शन में भी तत्त्वज्ञान और आचार दोनों का समावेश है। जब निश्चय-व्यवहार नय का प्रयोग तत्त्वज्ञान और आचार दोनों में होता है तब, सामान्य रूप से शास्त्र चिन्तन करने वाला यह अन्तर जान नहीं पाता कि तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में किया जाने वाला निश्चय और व्यवहार का प्रयोग आचार के क्षेत्र में किये जाने वाले वैसे प्रयोग से भिन्न है और भिन्न परिणाम का सूचक भी है। तत्त्वज्ञान की निश्चय दृष्टि और आचार विषयक निश्चय दृष्टि ये दोनों एक नहीं। इसी तरह उभय विषयक व्यवहार दृष्टि के बारे में भी समझना चाहिए इसका स्पष्टीकरण यों है:—

जब निश्चय दृष्टि से तत्त्व का स्वरूप प्रतिपादन करना हो तो उसकी सीमा में केवल यही बात आनी चाहिए कि जगत के मूल तत्त्व क्या हैं? कितने हैं? और उनका क्षेत्र-काल आदि निरपेक्ष स्वरूप क्या है? और जब व्यवहार दृष्टि से तत्त्व निरूपण इष्ट हो तब उन्हीं मूल तत्त्वों का द्रव्य-क्षेत्र-काल आदि से सापेक्ष स्वरूप प्रतिपादित किया जाता है। इस तरह हम निश्चय दृष्टि का उपयोग करके जैन दर्शन सम्मत तत्त्वों का स्वरूप कहना चाहें तो संक्षेप में यह कह सकते हैं कि चेतन, अचेतन ऐसे परस्पर अत्यन्त बिजातीय दो तत्त्व हैं। दोनों एक दूसरे पर असर डालने की शक्ति भी धारण करते हैं। चेतन का संकोच विस्तार यह द्रव्य-क्षेत्र-काल आदि सापेक्ष होने से व्यवहारदृष्टि सिद्ध है। अचेतन पुद्गल का परमाणुरूपत्व या एक प्रदेशावगाह्यत्व यह निश्चयदृष्टि का विषय है, जबकि उसका स्कन्धपरिणमन या अपने क्षेत्र में अन्य अनन्त परमाणु और स्कन्धों को अवकाश देना यह व्यवहारदृष्टि का निरूपण है। परन्तु आचारलक्षी निश्चय और व्यवहार दृष्टि का निरूपण जुदे प्रकार से होता है। जैनदर्शन मोक्ष को परम पुरुषार्थ मानकर उसी की दृष्टि से आचार की व्यवस्था करता है। अतएव जो आचार सीधे तौर से मोक्षलक्षी है वही नैश्चयिक आचार है इस आचार में दृष्टिभ्रम और काषायिक वृत्तियों के निर्मूलीकरण मात्र का समावेश होता है। पर व्यावहारिक आचार ऐसा एकरूप नहीं। नैश्चयिक आचार की भूमिका से निष्पन्न ऐसे भिन्न भिन्न देश-काल-जाति-स्वभाव-रुचि आदि के अनुसार कभी कभी परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले भी आचार व्यावहारिक आचार कोटि में गिने जाते हैं। नैश्चयिक आचार की भूमिका पर वर्तमान एक ही व्यक्ति

अनेकविध व्यावहारिक आचारों में से गुजरता है इस तरह हम देखते हैं कि आचारगामी नैश्चयिक दृष्टि या व्यावहारिक दृष्टि मुख्यतया मोक्ष पुरुषार्थ की दृष्टि से ही विचार करती है। जब कि तत्त्वनिरूपक निश्चय या व्यवहार दृष्टि केवल जगत के स्वरूप को लक्ष्य में रखकर ही प्रवृत्त होती है। तत्त्वज्ञान और आचार लक्षी उक्त दोनों नयों में एक दूसरा भी महत्त्व का अन्तर है, जो ध्यान देने योग्य है।

नैश्चयिक दृष्टि सम्मत तत्त्वों का स्वरूप हम सभी साधारण जिज्ञासु कभी प्रत्यक्ष कर नहीं पाते। हम ऐसे किसी व्यक्ति के कथन पर श्रद्धा रखकर ही वैसा स्वरूप मानते हैं कि जिस व्यक्ति ने तत्त्वस्वरूप का साक्षात्कार किया हो। पर आचार के बारे में ऐसा नहीं हैं। कोई भी जागरूक साधक अपनी आन्तरिक सत्-असत् वृत्तियों को व उनकी तीव्रता-मन्दता के तारतम्य को सीधा अधिक प्रत्यक्ष जान सकता है। जब कि अन्य व्यक्ति के लिए पहले व्यक्ति की वृत्तियाँ सर्वथा परोक्ष हैं। नैश्चयिक हो या व्यावहारिक, तत्त्वज्ञान का स्वरूप उस उस दर्शन के सभी अनुयायियों के लिए एक सा है तथा समान परिभाषाबद्ध है। पर नैश्चयिक व व्यावहारिक आचार का स्वरूप ऐसा नहीं। हरएक व्यक्ति का नैश्चयिक आचार उसके लिए प्रत्यक्ष है। इस अल्प विवेचन से मैं केवल इतना ही सूचित करना चाहता हूँ कि निश्चय और व्यवहार नय ये दोनों शब्द भले ही समान हों। पर तत्त्वज्ञान और आचार के क्षेत्र में भिन्न भिन्न अभिप्राय से लागू होते हैं, और हमें विभिन्न परिणामों पर पहुँचाते हैं।

निश्चयदृष्टि से जैन तत्त्वज्ञान की भूमिका औपनिषद तत्त्वज्ञान से बिल्कुल भिन्न हैं। प्राचीन माने जाने वाले सभी उपनिषद सत्, असत्, आत्मा, ब्रह्म, अव्यक्त, आकाश, आदि भिन्न भिन्न नामों से जगत के मूल का निरूपण करते हुए केवल एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जगत् जड़-चेतन आदि रूप में कैसा ही नानारूप क्यों न हो, पर उसके मूल में असली तत्त्व तो केवल एक ही है। जब कि जैनदर्शन जगत् के मूल में किसी एक ही तत्त्व का स्वीकार नहीं करता, प्रत्युत परस्पर विजातीय ऐसे स्वतन्त्र दो तत्त्वों का स्वीकार करके उसके आधार पर विश्व के वैश्वरूप्य की व्यवस्था करता है। चौबीस तत्त्व मानने वाले सांख्य दर्शन को और शांकर आदि वेदान्त शाखाओं को छोड़ कर-भारतीय दर्शनों में ऐसा कोई दर्शन नहीं जो जगत के मूलरूप से केवल एक तत्त्व स्वीकार करता हो। न्याय-वैशेषिक हो या सांख्य-योग हो, या पूर्व मीमांसा हो सभी अपने अपने ढंग से जगत के मूल में अनेक तत्त्वों का स्वीकार करते हैं। इससे स्पष्ट है कि जैन तत्त्वचिन्तन की प्रकृति औपनिषद तत्त्वचिन्तन की प्रकृति



से सर्वथा भिन्न है। ऐसा होते हुए भी जब डॉ० रानडे जैसे सूक्ष्म तत्त्वचिन्तक उपनिषदों में जैन तत्त्वचिन्तन का उद्गम दिखाते हैं तब विचार करने से ऐसा मालूम होता है कि यह केवल उपनिषद भक्ति की आत्यन्तिकता है।[1] इस तरह उन्होंने जो बौद्धदर्शन या न्याय-वैशेषिक दर्शन का सम्बन्ध उपनिषदों से जोड़ा है वह भी मेरी राय में भ्रान्त है। इस विषय में मेक्समूलर[2] और डॉ० ध्रुव आदि की दृष्टि जैसी स्पष्ट है वैसी बहुत कम भारतीय विद्वानों की होगी। डॉ० रानडे की अपेक्षा प्रो० हरियन्ना व डॉ० एस० एन० दासगुप्त का निरूपण मूल्यवान है। जान पड़ता है कि उन्होंने अन्यान्य दर्शनों के मूल-ग्रन्थों को विशेष सहानुभूति व गहराई से पढ़ा है।

## अनेकान्त वाद[3]

हम सभी जानते हैं कि बुद्ध अपने को विभज्यवादी[4] कहते हैं। जैन आगमों में महावीर को भी विभज्यवादी सूचित किया है।[5] विभज्यवाद का मतलब पृथक्करण पूर्वक सत्य-असत्य का निरूपण व सत्यों का यथावत् समन्वय करना है। विभज्यवाद के गर्भ में ही किसी भी एकान्त का परित्याग सूचित है। एक लम्बी वस्तु के दो छोर ही उसके दो अन्त हैं। अन्तों का स्थान निश्चित है। पर उन दो अन्तों के बीच का अन्तर या बीच का विस्तार—अन्तों की तरह स्थिर नहीं। अतएव दो अन्तों का परित्याग करके बीच के मार्ग पर चलने वाले सभी एक जैसे हो ही नहीं सकते यही कारण है कि विभज्यवादी होने पर भी बुद्ध और महावीर की दृष्टि में कई बातों में बहुत अन्तर रहा है। एक व्यक्ति अमुक विवक्षा से मध्यममार्ग या विभज्यवाद घटाता है तो दूसरा व्यक्ति अन्य विवक्षा से घटाता है। पर हमें ध्यान रखना चाहिए कि ऐसी भिन्नता होते हुए भी बौद्ध और जैनदर्शन की आत्मा तो विभज्यवाद ही है।

विभज्यवाद का ही दूसरा नाम अनेकान्त है, क्यों कि विभज्यवाद में एकान्तदृष्टिकोण का त्याग है। बौद्ध परम्परा में विभज्यवाद के स्थान में मध्यम मार्ग शब्द विशेष रूढ़ है। हमने ऊपर देखा कि अन्तों का परित्याग करने पर भी अनेकान्त के अवलम्बन में भिन्न भिन्न विचारों का भिन्न भिन्न दृष्टि-

---

१. कन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक् फिलॉसॉफी पृ० १७९
२. दि सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलॉसॉफी
३. प्रमाणमीमांसा भाषाटिप्पण पृ० ६१
४. मज्झिमनिकाय सुत्त ९९
५. सूत्रकृतांग १. १४. २२.

कोण सम्भव है। अतएव हम न्याय, सांख्य-योग और मीमांसक जैसे दर्शनों में भी विभज्यवाद तथा अनेकान्त शब्द के व्यवहार से निरूपण पाते हैं। अक्षपाद कृत "न्यायसूत्र" के प्रसिद्ध भाष्यकार वात्स्यायन ने २-१-१५, १६ के भाष्य में जो निरूपण किया है वह अनेकान्त का स्पष्ट द्योतक है और "यथा दर्शनं विभागवचनं" कहकर तो उन्होंने विभज्यवाद के भाव को ही ध्वनित किया है। हम सांख्यदर्शन की सारी तत्त्वचिन्तन प्रक्रिया को ध्यान से देखेंगे तो मालूम पड़ेगा कि वह अनेकान्त दृष्टि से निरूपित है। "योगदर्शन" के ३-१३ सूत्र के भाष्य तथा तत्त्व वैशारदी विवरण को ध्यान से पढ़ने वाला सांख्य-योग दर्शन की अनेकान्त दृष्टि को यथावत् समझ सकता है कुमारिल ने भी "श्लोक वार्तिक" और अन्यत्र अपनी तत्त्वव्यवस्था में अनेकान्तदृष्टि का उपयोग किया है,[1] उपनिषदों के समान आधार पर केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि जो अनेक वाद स्थापित हुए हैं वे वस्तुतः अनेकान्त विचार सरणी के भिन्न भिन्न प्रकार हैं। तत्त्वचिन्तन की बात छोड़ कर हम मानवयूथों के जुदे जुदे आचार व्यवहारों पर ध्यान देंगे तो भी उनमें अनेकान्त दृष्टि पायेंगे। वस्तुतः जीवन का स्वरूप ही ऐसा है कि जो एकान्तदृष्टि में पूरा प्रकट हो ही नहीं सकता। मानवीय व्यवहार भी ऐसा है कि जो अनेकान्त दृष्टि का अन्तिम अवलम्बन बिना लिये निभ नहीं सकता। इस संक्षिप्त प्रतिपादन से केवल इतना ही सूचित करना है कि हम संशोधक अभ्यासियों को हर एक प्रकार की अनेकान्तदृष्टि को, उसके निरूपक की भूमिका पर रहकर ही समझने का प्रयत्न करना चाहिए ऐसा करने पर हम न केवल भारतीय संस्कृति के किन्तु मानवीय संस्कृति के हर एक वर्तुल में भी एक व्यापक समन्वय का सूत्र पाएँगे।

अनेकान्त दृष्टि में से ही नयवाद तथा सप्तभंगी विचार का जन्म हुआ है। अतएव में नयवाद तथा सप्तभंगी विचार के विषय में कुछ प्रकीर्ण विचार उपस्थित करता हूँ। नय सात माने जाते हैं। उनमें पहले चार अर्थनय और पिछले तीन शब्द नय हैं। महत्त्व के भिन्न भिन्न दार्शनिक मन्तव्यों को उस उस दर्शन के दृष्टिकोण की भूमिका पर ही नयवाद के द्वारा समझाने का तथा व्यवस्थित करने का तत्कालीन जैन आचार्यों का उद्देश्य रहा है। दार्शनिक विचारों के विकास के साथ ही जैन आचार्यों में संभवित अध्ययन के आधार पर नय विचार में भी उस विकास का समावेश किया है। यह बात इतिहास सिद्ध है। भगवान् महावीर के शुद्धिलक्षी जीवन का तथा तत्कालीन शासन

१. श्लोक वार्तिक, आत्मवाद २९-३० आदि।



का विचार करने से जान पड़ता है कि नयवाद मूल में अर्थनय तक ही सीमित होगा। जब शासन के प्रचार के साथ साथ व्याकरण, निरुक्त, निघंटु, कोष जैसे शास्त्रान्तरों का अध्ययन बढ़ता गया तब विचक्षण आचार्यों ने नयवाद में शब्द-स्पर्शी विचारों को भी शब्दनय रूप से स्थान दिया। संभव है शुरू में शब्द-नयों में एक शब्दनय ही रहा हो। इसकी पुष्टि में यह कहा जा सकता है कि निर्युक्ति में नयों की पांच संख्या का भी एक विकल्प है।[1] क्रमशः शब्द नय के तीन भेद हुए जिसके उदाहरण व्याकरण, निरुक्त, कोष आदि के शब्द प्रधान विचारों से ही लिये गए हैं।

प्राचीन समय में वेदान्त के स्थान में सांख्य-दर्शन ही प्रधान था इसी से आचार्यों ने संग्रह नय के उदाहरण रूप से सांख्यदर्शन को लिया है। पर शंकराचार्य के बाद ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा बढ़ी, तब जैन विद्वानों ने संग्रह नय के उदाहरण रूप से ब्रह्मवाद को ही लिया है। इसी तरह शुरू में ऋजुसूत्र का उदाहरण सामान्य बौद्ध दर्शन था। पर जब उपाध्याय यशोविजय जी जैसों ने देखा कि बौद्ध दर्शन के तो वैभाषिक आदि चार भेद हैं तब उन्होंने उन चारों शाखाओं का ऋजुसूत्र नय में समावेश किया।

इस चर्चा से सूचित यह होता है कि नयवाद मूल में भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों का संग्राहक है। अतएव उसकी संग्राहक सीमा अध्ययन व चिन्तन की वृद्धि के साथ ही बढ़ती रही है। ऐसी हालत में जैन दर्शन के अभ्यासी एवं संशोधकों का कर्तव्य हो जाता है कि वे आधुनिक विशाल ज्ञान सामग्री का उपयोग करें और नय विचार का क्षेत्र सर्वांगीण यथार्थ अध्ययन से विस्तृत करें, केवल एक देशीयता से संतुष्ट न रहें।

"नैगम" शब्द की "नैक+गम," नैग (अनेक)+म तथा 'निगमे भवः' जैसी तीन व्युत्पत्तियाँ निर्युक्ति आदि ग्रन्थों में पाई जाती हैं।[2] पर वस्तुस्थिति के साथ मिलान करने से जान पड़ता है कि तीसरी व्युत्पत्ति ही विशेष ग्राह्य है, उसके अनुसार अर्थ होता है कि जो विचार या व्यवहार निगम में—व्यापार व्यवसाय करने वाले महाजनों के स्थान में होता है वह नैगम।[3] जैसे महाजनों के व्यवहार में भिन्न भिन्न मतों का समावेश होता है, वैसे ही इस नय में भिन्न भिन्न तात्त्विक मन्तव्यों का समावेश विवक्षित है। पहली दो व्युत्पत्तियाँ

१. आवश्यक निर्युक्ति गा० ७५९

२. आवश्यक निर्युक्ति गा० ७५५; तत्त्वार्थभाष्य १.३५; स्थानांगटीका स्था० ७। ३. भगवती शतक १. उद्देशा १०।

वैसी ही कल्पना प्रस्तुत हैं, जैसी कि 'इन्द्र' की "इं द्रातीति इन्द्रः" यह माठर-वृत्ति गत व्युत्पत्ति है।

सप्तभंगी गत सात भंगों में शुरू के चार ही महत्त्व के हैं क्यों कि वेद, उपनिषद् आदि ग्रन्थों में तथा "दीघनिकाय" के ब्रह्मजाल सूत्र में ऐसे चार विकल्प छूटे छूटे रूप में या एक साथ निर्दिष्ट पाये जाते हैं। सात भंगों में जो पिछले तीन भंग है उनका निर्देश किसी के पक्षरूप में कहीं देखने में नहीं आया। इससे शुरू के चार भंग ही अपनी ऐतिहासिक भूमिका रखते है ऐसा फलित होता है।

शुरू के चार भंगों में एक 'अवक्तव्य' नाम का भंग भी है। उसके अथ के बारे में कुछ विचारणीय बात है। आगम युग के प्रारम्भ से अवक्तव्य भंग का अर्थ ऐसा किया जाता है कि सत्-असत् या नित्य-अनित्य आदि दो अंशों को एक साथ प्रतिपादन करने वाला कोई शब्द ही नहीं, अतएव ऐसे प्रतिपादन की विवक्षा होने पर वस्तु अवक्तव्य है। परन्तु अवक्तव्य शब्द के इतिहास को देखते हुए कहना पड़ता है कि उसकी दूसरी व ऐतिहासिक व्याख्या पुराने शास्त्रों में है।

उपनिषदों में "यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह"[1] इस उक्ति के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप को अनिर्वचनीय अथवा वचनागोचर सूचित किया ह। इसी तरह 'आचारांग' में भी "सव्वे सरा नियट्टंति, तत्थ झुणी न विज्जइ"[2] आदि द्वारा आत्मा के स्वरूप को वचनागोचर कहा है। बुद्ध ने भी अनेक वस्तुओं को अव्याकृत[3] शब्द के द्वारा वचनागोचर ही सूचित किया है।

जैन परम्परा में तो अनभिलाप्य[4] भाव प्रसिद्ध हैं जो कभी वचनगोचर नहीं होते। मैं समझता हूँ कि सप्तभंगी में अवक्तव्य का जो अर्थ लिया जाता है वह पुरानी व्याख्या का वादाश्रित व तर्कगम्य दूसरा रूप है।

सप्तभंगी के विचार प्रसंग में एक बात का निर्देश करना जरूरी है। श्री शंकराचार्य के 'ब्रह्मसूत्र' २-२-३३ के भाष्य में सप्तभंगी को संशयात्मक ज्ञान रूप से निर्दिष्ट किया है। श्री रामनुजाचार्य ने भी उन्हीं का अनुसरण किया है। यह हुई पुराने खण्डन मण्डन प्रधान साम्प्रदायिक युग की बात। पर तुलनात्मक और व्यापक अध्ययन के आधार पर प्रवृत्त हुए नए युग के विद्वानों का विचार इस विषय में जानना चाहिए। डॉ० ए०बी० ध्रुव, जो भारतीय तथा

१. तैत्तिरीय उपनिषद् २. ४। २. आचारांग सू० १७०

३. मज्झिमनिकायसुत्त ६३। ४. विशेषा० भा० १४१, ४८८।



पाश्चात्य तत्त्वज्ञान की सब शाखाओं के पारदर्शी विद्वान् रहे खास कर शांकर वेदान्त के विशेष पक्षपाती भी रहे-उन्होंने अपने "जैन अने ब्राह्मण"[1] भाषण में स्पष्ट कहा है कि सप्तभंगी यह कोई संशयज्ञान नहीं है। वह तो सत्य के नानाविध स्वरूपों की निदर्शक एक विचारसरणी है। श्री नर्मदाशंकर मेहता, जो भारतीय समग्र तत्त्वज्ञान की परम्पराओं और खासकर वेद-वेदान्त की परम्परा के असाधारण मौलिक विद्वान थे; और जिन्होंने "हिन्द तत्त्वज्ञान नो इतिहास"[2] आदि अनेक अभ्यासपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं, उन्होंने भी सप्तभंगी का निरूपण बिलकुल असाम्प्रदायिक दृष्टि से किया है, जो पठनीय है। सर राधाकृष्णन, डॉ० दासगुप्त आदि[3] तत्त्व चिन्तकों ने भी सप्तभंगी का निरूपण जैन दृष्टिकोण को बराबर समझ कर ही किया है। यह बात मैं इसलिए लिख रहा हूँ कि साम्प्रदायिक और असाम्प्रदायिक अध्ययन का अन्तर ध्यान में आजाय।

चारित्र के दो अंग हैं, जीवनगत आगन्तुक दोषों को दूर करना यह पहला, और आत्मा की स्वाभाविक शक्तियों व सद्गुणों का उत्कर्ष करना यह दूसरा अंग है। दोनों अंगों के लिए किये जाने वाले सम्यक् पुरुषार्थ में ही वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की कृतार्थता है।

उक्त दोनों अंग परस्पर ऐसे सम्बद्ध हैं कि पहले के बिना दूसरा संभव ही नहीं, और दूसरे के बिना पहला ध्येयशून्य होने से शून्यवत् है।

इसी दृष्टि से महावीर जैसे अनुभवियों ने हिंसा आदि क्लेशों से विरत होने का उपदेश दिया व साधकों के लिए प्राणातिपातविरमण आदि व्रतों की योजना की, परन्तु स्थूलमति व अलस प्रकृति वाले लोगों ने उन निवृत्ति प्रधान व्रतों में ही चारित्र की पूर्णता मानकर उसके उत्तरार्ध या साध्यभूत दूसरे अंग की उपेक्षा की। इसका परिणाम अतीत की तरह वर्तमान काल में भी अनेक विकृतियों में नजर आता है। सामाजिक तथा धार्मिक सभी क्षेत्रों में जीवन गतिशून्य व विसंवादी बन गया है। अतएव संशोधक विचारकों का कर्तव्य हैं कि विरतिप्रधान व्रतों का तात्पर्य लोगों के सामने रखें।

भगवान महावीर का तात्पर्य यही रहा है कि स्वाभाविक सद्गुणों के विकास की पहली शर्त यह है कि आगन्तुक मलों को दूर करना। इस शर्त

१. आपणो धर्म पृ० ६७३। २. पृ० २१३—२१९।

३. राधाकृष्णन—इन्डियन फिलॉसॉफी वॉल्यूम १, पृ० ३०२। दासगुप्ता—ए हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलॉसॉफी वॉल्यूम १, पृ०१७९।

की अनिवार्यता समझ कर ही सभी संतों ने पहले क्लेशनिवृत्ति पर ही भार दिया है। और वे अपने जीवन के उदाहरण से समझा गए हैं कि क्लेश-निवृत्ति के बाद वैयक्तिक तथा सामुदायिक जीवन में सद्गुणों की वृद्धि व पुष्टि का कैसे सम्यक् पुरुषार्थ करना।

## तुरन्त करने योग्य काम—

कई भाण्डारों की सूचियाँ व्यवस्थित बनी हैं, पर छपी नहीं हैं तो कई सूचियाँ छपी भी हैं। और कई भाण्डारों की बनी ही नहीं है, कई की हैं तो व्यवस्थित नहीं हैं। मेरी राय में एक महत्त्व का काम यह है कि एक ऐसी महासूचि तैयार करनी चाहिए, जिसमें प्रो० बेलणकर की जिनरत्नकोष नामक सूचि के समावेश के साथ सब भाण्डरों की सूचियाँ आ जायँ। जो न बनी हों तैयार कराई जायँ, अव्यवस्थित व्यवस्थित कराई जायँ। ऐसी एक महासूचि होने से देशविदेश में वर्तमान यावत् जैन साहित्य की जानकारी किसी भी जिज्ञासु को घर बैठे सुकर हो सकेगी और काम में सरलता भी होगी। मद्रास में श्री राघवन संस्कृत ग्रन्थों की ऐसी ही सूचि तैयार कर रहे हैं। बर्लिन मेन्युस्क्रिप्ट की एक बड़ी विस्तृत सूचि अभी ही प्रसिद्ध हुई है। ऐसी ही वस्तुस्थिति अन्य पुरातत्त्वीय सामग्री के विषय में भी है। उसका भी संक-लन एक सूचि द्वारा जरूरी है।

अपभ्रंश भाषा के साहित्य के विशेष प्रकाशनों की आवश्यकता पर पहले के प्रमुखों ने कहा है, परन्तु उसके उच्चतर अध्ययन का विशिष्ट प्रबन्ध होना अत्यन्त जरूरी है। इसके सिवाय गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी, मराठी, बंगाली आदि भाषाओं के कड़ीबंध इतिहास लेखन का कार्य संभव ही नहीं। इसी तरह उच्च शिक्षा के लिए प्रांतीय भाषाओं को माध्यम बनाने का जो विचार चारों ओर विकसित हो रहा है, उसकी पूरी सफलता तभी संभव है जब उक्त भाषाओं की शब्द समृद्धि व विविध अर्थों को वहन करने की क्षमता बढ़ाई जाय। इस कार्य में अपभ्रंश भाषाओं का अध्ययन अनिवार्य रूप से अपेक्षित है।

प्राकृत विशेष नामों के कोष की उपयोगिता तथा जैन पारिभाषिक शब्द कोष की उपयोगिता के बारे में अतः पूर्व कहा गया है। मैं इस विषय में अधिक चर्चा न करके एक ऐसा सूचन करता हूँ जो मेरी राय में आज की स्थिति में सबसे प्रथम कर्तव्य है और जिसके द्वारा नये युग की माँग को



हम लोग विशेष सरलता व एक सुचारु पद्धति से पूरा कर सकेंगे। वह सूचन यह है :—

नवयुगीन साहित्यिक मर्यादाओं को समझने वालों की तथा उनमें रस लेने वालों की संख्या अनेक प्रकार से बढ़ रही है। नव शिक्षा प्राप्त अध्यापक विद्यार्थी आदि तो मिलते ही हैं, पर पुराने ढंग से पढ़े हुए पण्डितों व ब्रह्मचारी एवं भिक्षुओं की काफी तादाद भी इस नये युग का बल जानने लगी है। व्य-वसायी पर विद्याप्रिय धनवानों का ध्यान भी इस ओर गया है। जुदे जुदे जैन फिरकों में ऐसी छोटी बड़ी संस्थाएँ भी चल रही हैं तथा निकलती जा रही हैं जो नये युग की साहित्यिक आवश्यकता को थोड़ा बहुत पहचानती हैं और योग्य मार्ग दर्शन मिलने पर विशेष विकास करने की उदारवृत्ति भी धारण करती हैं।

यह सब सामग्री मामूली नहीं है, फिर भी हम जो काम जितनी त्वरा से और जितनी पूर्णता से करना चाहते हैं वह हो नहीं पाता। कारण एक ही है कि उक्त सब सामग्री बिखरी हुई कड़ियों की तरह एकसूत्रता-विहीन है।

हम सब जानते हैं कि पार्श्वनाथ और महावीर के तीर्थ का जो और जैसा कुछ अस्तित्व शेष है उसका कारण केवल संघ रचना व संघ व्यवस्था है। यह वस्तु हमें हजारों वर्ष से अनायास विरासत में मिली है. गाँव-गाँव, शहर-शहर में जहाँ भी जैन हैं, उनका अपने ढंग का संघ है।

हर एक फिरके के साधु–जति–भट्टारकों का भी संघ है। उस उस फिरके के तीर्थ–मन्दिर–धर्मस्थान भाण्डार आदि विशेष हितों की रक्षा तथा वृद्धि करने वाली कमेटियाँ—पेढ़ियाँ व कान्फरेन्सें तथा परिषदें भी हैं। यह सब संघशक्ति का ही निदर्शन है। जब इतनी बड़ी संघ शक्ति है तब क्या कारण है कि हम मन चाहे सर्वसम्मत साहित्यिक काम को हाथ में लेने से हिच-किचाते हैं ?

मुझको लगता है कि हमारी चिरकालीन संघशक्ति इसलिए कार्यक्षम साबित नहीं होती कि उसमें नव दृष्टि का प्राणस्पन्दन नहीं है। अतएव हमें एक ऐसे संघ की स्थापना करनी चाहिए कि जिसमें जैन जैनेतर, देशी विदेशी गृहस्थ त्यागी पंडित अध्यापक आदि सब आकृष्ट होकर सम्मिलित हो सकें और संघ द्वारा सोची गई आवश्यक साहित्यिक प्रवृत्तियों में अपने अपने स्थान में रहकर भी अपनी अपनी योग्यता व रुचि के अनुसार भाग ले सकें, निःसंदेह इस नये संघ की नींव कोई साम्प्रदायिक या पान्थिक न होगी। केवल जैन परम्परा से

सम्बद्ध सब प्रकार के साहित्य को नई जरूरतों के अनुसार तैयार व प्रकाशित करना और बिखरे हुए योग्य अधिकारियों से विभाजन पूर्वक काम लेना एवं मौजूदा तथा नयी स्थापित होने वाली साहित्यिक संस्थाओं को नयी दृष्टि का परिचय कराना इत्यादि इस संघ का काम रहेगा। जिसमें किसी का विसंवाद नहीं और जिसके बिना नये युग की माँग को हम कभी पूरा ही कर नहीं सकते।

पुरानी वस्तुओं की रक्षा करना इष्ट है, पर इसी को इतिश्री मान लेना भूल है। अतएव हमें नई एवं स्फूर्ति देने वाली आवश्यकताओं को लक्ष्य में रखकर ऐसे संघ की रचना करनी होगी। इसके विधान, पदाधिकारी, कार्य-विभाजन, आर्थिक बाजू आदि का विचार में यहाँ नहीं करता। इसके लिए हमें पुनः मिलना होगा।

# परिशिष्ट

## (१)

## मुनि श्री पुण्य विजय जी के जैसलमेर भांडार के उद्धार कार्य की रूपरेखा

प्रथम तो जैसलमेर गत भांडारों के जीर्णोद्धार कार्य में किन किन बातों का मुख्य समावेश है उसी का निर्देश करना आवश्यक है, जिससे संशोधक विद्वानों को यह ध्यान में आ जाय कि संशोधन का पूरा अर्थ क्या है ?

१—अधूरे और बिखरे हुए ग्रन्थों के एक दूसरे में मिश्रित ताड़पत्रीय व कागजी पत्रों को लिपि, कद, भाषा, विषय, पत्रांक आदि के आधार पर संकलित करके उनका उस उस ग्रंथ के रूप में एकीकरण।

२—उन एकीकृत ग्रन्थों की तथा पूरे या अधूरे पर शृंखला बद्ध उपलब्ध ग्रन्थोंकी वर्गीकरण पूर्वक सूची; जिसमें रचयिता, लेखनकाल, विषय, विशेष ज्ञातव्य आदि आवश्यक बातों का समावेश।

३—असली सामग्री को प्राचीन परंपरा के अनुसार जैसलमेर में रख कर भी उसकी सार्वत्रिक सुलभता की दृष्टि से तथा अपने अभिप्रेत संपादन में सीधा उपयोग करने की दृष्टि से अनेक ताड़पत्रीय व कागजी ग्रन्थों का माइक्रोफिल्म में अवतरण।



### निम्नलिखित ग्रन्थों का माइक्रोफिल्म हुआ है

१—समवाय सूत्र
२—भगवती सूत्र
३—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र
४—जीवाभिगम सूत्र तथा लघुवृत्ति
५—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति उपांग सूत्र तथा चूर्णी
६—कल्पबृहद्भाष्य प्रथमखंड
७—जम्बूप्रज्ञप्ति उपांग सूत्र
८—सिद्धप्राभृत
९—निरयावलिकादि पंचोपांग सूत्र
१०—ज्योतिष्करंडक वृत्ति तथा मूल
११—दशाश्रुतस्कंध चूर्णि आदि
१२—दशाश्रुतस्कंध चूर्णि
१३—दशाश्रुतस्कंध सूत्र
१४—दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति
१५—कल्पबृहद्भाष्य प्रथम खंड
१६—कल्पबृहद्भाष्य प्रथम खंड
१७—व्यवहार सूत्र
१८—व्यवहार-भाष्य
१९—व्यवहार चूर्णी
२०—निशीथ सूत्र
२१—निशीथ भाष्य
२२—निशीथसूत्र चूर्णी प्रथम खंड दशम उद्देश पर्यंत
२३—निशीथसूत्र चूर्णी द्वितीय खंड
२४—निशीथ चूर्णी विंशोद्देशक व्याख्या
२५—ओघनिर्युक्ति वृत्ति
२६—दशवैकालिक चूर्णी
२७—पिंडनिर्युक्ति वृत्ति सह
२८—पिंडनिर्युक्ति लघुवृत्ति
२९—विशेषावश्यक महाभाष्य
३०—विशेषावश्यक वृत्ति प्रथम खंड
३१—विशेषावश्यक वृत्ति द्वितीय खंड
३२—ओघनिर्युक्ति बृहद्भाष्य
३३—आवश्यकनिर्युक्ति-भद्रबाहु स्वामी
३४—षडावश्यक सूत्रवृत्ति—नमिसाधु
३५—ललित विस्तरा वृत्ति संक्षेप (चैत्यवंदन सूत्रवृत्ति-हरिभद्र सूरि)
३६—चैत्यवंदना सूत्र चूर्णी (यशोदेव सूरि)
३७—वंदनक सूत्र चूर्णी (यशोदेव सूरि)
३८—ईरियावहिया दंडक चूर्णी
३९—प्रत्याख्यान-स्वरूप-प्रकरण गाथाबद्ध (यशोदेव)
४०—पाक्षिकसूत्र चूर्णी
४१—सर्वसिद्धांत विषमपद-पर्याय
४२—प्रकण पोथी
४३—सूक्ष्मार्थ विचार चूर्णी
४४—कर्म प्रकृति चूर्णी
४५—कर्म प्रकृति चूर्णी विशेष वृत्ति
४६—शतक चूर्णी
४७—शतक चूर्णी
४८—जम्बूद्वीपक्षेत्रसमास वृत्ति (हरिभद्र सूरि)
४९—पिंड विशुद्धि प्रकरण सटीक
५०—चैत्यवंदन भाष्य संघाचार टीका सह

५१—पंचाशक प्रकरण लघुवृत्ति अष्टादश पंचाशक पर्यंत (यशोभद्र सूरि)
५२—उपदेश पद प्रकरण लघु टीका (वर्धमान सूरि)
५३—उपदेश प्रकरण लघु टीका
५४—दर्शनशुद्धि प्रकरण विवरण सह
५५—संवेग रंग शाला
५६—धर्म विधि प्रकरण
५७—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र गद्यबद्ध शांतिनाथ चरित्र पर्यंत
५८—नेमिनाह चरित्र अपभ्रंश
५९—अतिमुक्तक चरित्र
६०—अतिमुक्तक चरित्र आदि (पूर्णभद्र)
६१—अणुव्रत विधि
६२—तपोटमतकुट्टनशत आदि
६३—कातंत्र व्याकरण दुर्गसिंही वृत्ति दुर्गपद प्रबोध
६४—पंचग्रन्थी-बुद्धिसागर व्याकरण
६५—सिद्ध० शब्दा० लघुन्यास (दुर्गपद व्याख्या) चतुष्कावचूर्णि षष्टपाद पर्यंत
६६—सिद्ध० शब्दा० रहस्य वृत्ति (सिद्ध० शब्दा० लघूवृत्ति संक्षेप)
६७—अनेकार्थकोश अनेकार्थ कैरवाकर कौमुदी वृत्ति सह द्विस्वर कांड पर्यंत
६८—अनेकार्थकोश त्रिस्वरकांड द्वितीय खंड
६९—अनेकार्थकोश चतुःस्वर कांड का सम्पूर्ण ततीय खंड
७०—कल्पलता विवेक (कल्प पल्लव शेष)
७१—काव्यादर्श (काव्यप्रकाश संकेत)
७२—काव्य प्रकाश संकेत
७३—काव्य प्रकाश
७४—अलंकार दर्पण
७५—निर्वाण लीलावती महाकथा उद्धार (लीलावती सार)
७६—मुद्राराक्षस नाटक टिप्पणी सह
७७—प्रबोधचंद्रोदय नाटक टिप्पणी सह
७८—अनर्घराघव नाटक
७९—वेणीसंहार नाटक
८०—चन्द्रलेखा विनय प्रकरण नाटक
८१—सन्मति तर्क प्रकरण तत्त्वबोधविधायिन्याख्य वृत्ति सह
८२—न्यायावतारसूत्रवृत्ति टिप्पणी सह
८३—सर्व सिद्धान्त प्रवेश (षड्दर्शन समुच्चय जैसा)
८४—न्यायप्रवेश सूत्र आदि
८५—तत्त्व संग्रह पञ्जिका वृत्ति (कमल शील वृत्ति)
८६—तत्त्वसंग्रह मूल
८७—खंडनखंड खाद्य
८८—खंडनखंड खाद्य शिष्य हितैषिणी वृत्ति टिप्पण्यादि युक्त
८९—न्यायमंजरी ग्रंथिभंग
९०—गौतमीय न्यायसूत्र वृत्ति
९१—भाष्य वार्तिक विवरण पंजिका द्वितीय अध्याय तथा पंचम अध्याय पर्यंत



९२—इष्टसिद्धि वृत्ति सह सम्पूर्ण,
९३—सांख्यसप्तितिका वृत्तिसह,
९४—सांख्य सप्ततिका वृत्तिसह,
९५—सांख्य सप्ततिका आदि
९६—सांख्य सप्ततिका भाष्य आदि
९७—अर्थशास्त्र (चाणक्य)
९८—निशीथ सूत्रचूर्णी प्रथम खंड
९९—नंदी दुर्गपदवृत्ति
१००—उपदेशपद प्रकरण
१०१—प्रकरण पुस्तिका
१०२—सार्ध शतक प्रकरण वृत्तिसह
१०३—सप्ततिका कर्मग्रंथ टिप्पणक गाथाबद्ध
१०४—भगवद्गीता भाष्यसह
१०५—बृहत्संग्रहणी प्रकरण सटीक
१०६—महावीर चरित्र प्राकृत गाथा बद्ध
१०७—मुनिसुव्रत स्वामि चरित्र संस्कृत
१०८—पउम चरिउ प्राकृत गाथा
१०९—समराइच्च कहा—प्राकृत
११०—कुवलयमाला कथा
१११—विलासवई कहा—अपभ्रंश
११२—विलासवई कहा—अपभ्रंश
११३—पृथ्वीचन्द्र चरित्र
११४—सुखबोधा सामाचारी
११५—कातंत्र व्याकरण दुर्गसिंह वृत्ति विवरण पंजिका
११६—त्रिलोचन दास कृद्वृत्ति
११७—कातंत्रोत्तर विद्यानंदि वृत्ति पंचसंधिपर्यंत
११८—कातंत्रोत्तर विद्यानंदि वृत्ति द्वितीयपाद पर्यंतटिप्पण सह
११९—कातंत्रोत्तर विद्यानंदि वृत्ति कारक प्रकरण
१२०—कातंत्रोत्तर विद्यानंदि वृत्ति तद्धित प्रकरण पर्यंत
१२१—सिद्धहेम शब्दानुशासन लघुवृत्ति पंचमाध्याय
१२२—स्याद्यंत प्रक्रिया
१२३—प्राकृत प्रकाश
१२४—जयदेव छंदः शास्त्र
१२५—जयदेव छंदः शास्त्र वृत्ति सह
१२६—कइसिट्ठ कृत छंदः शास्त्र वृत्ति
१२७—छंदोनुशासन
१२८—वृत्तरत्नाकर
१२९—काव्यप्रकाश टिप्पण सह
१३०—व्यक्तिविवेक काव्यालंकार
१३१—काव्यादर्श तृतीय परिच्छेद पर्यंत
१३२—उद्भटालंकार लघुवृत्ति
१३३—अभिधा वृत्ति मातृका
१३४—रुद्रटालंकार तृतीयाध्याय तथा पंचमाध्याय पर्यंत
१३५—वामनीय काव्यालंकार स्वोपज्ञ वृत्ति टिप्पणसह
१३६—कविरहस्य टीका
१३७—भट्टिकाव्य
१३८—नैषधचरित महाकाव्य
१३९—नैषधीय महाकाव्य साहित्यविद्याधरा टीका
१४०—नैषधीय महाकाव्य
१४१—वृंदावन काव्य सटीक
१४२—घटकर्पर काव्य सटीक
१४३—शिवभद्र काव्य सटीक

१४४—मेघाभ्युदय काव्य सटीक
१४५—चंद्रदूत काव्य सटीक
१४६—राक्षस काव्य सटीक
१४७—घटकर्पर काव्य सटीक
१४८—वासवदत्ता आख्यायिका
१४९—चक्रपाणि विनय महाकाव्य
१५०—लीलावती कथा प्राकृतगाथा-बद्ध-महाराष्ट्रीय देशीभाषामय
१५१—गउड वहो महाकाव्य सटीक
१५२—मुद्राराक्षस नाटक टिप्पणी सह
१५३—प्रबोध चंद्रोदय नाटक टिप्पणी सह
१५४—अनर्घ राघव नाटक
१५५—वेणीसंहार नाटक
१५६—हम्मीरमदमर्दन नाटक
१५७—वस्तुपाल प्रशस्ति
१५८—वस्तुपाल स्तुति काव्य
१५९—अनेकान्त जय पताका टिप्पणक
१६०—प्रमालक्ष्म सटीक
१६१—धर्मोत्तर टिप्पणक
१६२—धर्मोत्तर टिप्पणक
१६३—मीमांसा दर्शन शाबर भाष्यसह
१६४—प्रमाणान्तर्भाव
१६५—पातंजल योगदर्शन भाष्यवृत्ति
१६६—पातंजल योगदर्शन भाष्य
१६७—तिलक मंजरी
१६८—सूक्ष्मार्थ विचारसार प्रकरण (सार्ध शतक प्रकरण)
१६९—श्रावक धर्मविधि तन्त्र प्रकरण
१७०—श्रावक विधि प्रकरण-प्राकृत
१७१—ओंकार पंचाशिका
१७२—सुभाषित पद्य संग्रह
१७३—शृंगार मंजरी
१७४—न्याय कंदली टीका
१७५—प्रशस्तपाद—भाष्य पदार्थ धर्म-संग्रह
१७६—न्याय कंदली
१७७—धर्मबिंदु प्रकरण
१७८—प्रकरण पुस्तिका
१७९—प्रकरण पोथी
१८०—श्राद्धदिन कृत्य प्रकरण
१८१—धर्मरत्न प्रकरण
१८२—नवतत्त्व प्रकरण भाष्य सह
१८३—धर्मोपदेश माला प्रकरण
१८४—शालिभद्र चरित्र प्राकृत बद्ध
१८५—गाथा श्रावकव्रत-भंगकुलक
१८६—उपदेशमाला प्रकरण पुष्पमाला
१८७—तपश्चरण भेद स्वरूप प्रकरण
१८८—त्रयोदशभेद नवकार स्वरूप कुलक
१८९—विचारमुख प्रकरण
१९०—बृहत्संग्रहणी प्रकरण
१९१—प्रकरण पोथी
१९२—श्रावक वक्तव्यता (षट् स्थानक प्रकरण)
१९३—पंचलिंगी प्रकरण
१९४—आगमोद्धार गाथा
१९५—मिथ्यात्वमथना कुलक
१९६—कल्प चूर्णि
१९७—आवश्यक टिप्पणक
१९८—पंच वस्तुक प्रकरण
१९९—उपासकदशांग सूत्र वृत्ति
२००—अंतकृद्दशांग सूत्र वृत्ति



२०१—अनुत्तरौपपातिक दशांग सूत्र वृत्ति
२०२—प्रश्न व्याकरण दशांग सूत्र वृत्ति
२०३—विपाक सूत्र वृत्ति
२०४—उपासकदशांग सूत्र
२०५—अंतकृद्दशांग सूत्र
२०६—अनुत्तरौपपातिक दशांग सूत्र
२०७—प्रश्न व्याकरण दशांग सूत्र
२०८—विपाक सूत्र
२०९—प्रज्ञापना सूत्र
२१०—प्रज्ञापना लघु वृत्ति
२११—भगवती मूल
२१२—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
२१३—पिंड निर्युक्ति
२१४—बाल शिक्षा व्याकरण

नोट—इस सूची में कई नाम अनेक बार आए हैं। उसका यह अर्थ है कि उन ग्रन्थों की अनेक प्रतियों का माइक्रोफिल्म हुआ है।

४—जीर्ण शीर्ण हुई और बहुत कम समय टिकने वाली पोथियों की नई वैज्ञानिक पद्धति से मरम्मत की गई उसमें निम्नलिखित बहुमूल्य प्रतियाँ शामिल हैं। इन सभी प्रतों के मार्जिन में किसी ने टिप्पणी भी लिखी है।

(१) न्यायभाष्य
(२) न्यायवार्तिक
(३) न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका
(४) तात्पर्य परिशुद्धि

इन चारों ग्रन्थों की हस्त लिखित प्रत सं १२७९ की है।

५—भंडार वाले स्थान की मरम्मत

६—ग्रन्थ आदि प्राच्य वस्तुओं के संरक्षणार्थ नए सिरे से उत्तम लोहे की अलमारियों का निर्माण।

७—ग्रन्थ के छोटे बड़े नाप के अनुसार एल्यूमिनियम् के डिब्बों को बनवा कर उनमें ग्रन्थों का स्थापन।

८—जैसलमेर में उपलब्ध एक एक ग्रन्थ की अनेक प्रतियों के आधार पर निम्नलिखित ग्रन्थों का संशोधन पाठान्तर लेकर किया गया—

(१) अनुयोगद्वार सूत्र, हारिभद्री और मलधारीया वृत्ति और चूर्णी
(२) नंदिसूत्र—मलयगिरीया वृत्ति, चूर्णी, हरिभद्रीय वृत्ति टिप्पणक (श्री चन्द्रीय दुर्गपद वृत्ति)
(३) सूर्यप्रज्ञप्ति वृत्ति
(४) ज्योतिष्करंडक प्रकीर्णक-पादलिप्त-कृत वृत्ति, मलयगिरि कृत वृत्ति
(५) विशेष्यावश्यक भाष्य—कोट्या-चार्य कृत टीका

(६) आवश्यक सूत्र, चूर्णी, मलयगिरि कृत टीका, हरिभद्रकृत टीका मलधारिकृत टिप्पण
(७) बृहत्कल्प सूत्र—लघुभाष्य
(८) दश वैकालिक सूत्र, हरिभद्रवृत्ति,
(९) प्रज्ञापनोपांग सूत्र, मलयगिरि टीका, हरिभद्रकृत टीका
(१०) सूत्रकृतांगसूत्र टीका
(११) समवायांग सूत्र टीका
(१२) दशाश्रुतस्कंध चूर्णी
(१३) कल्पसूत्र टिप्पणक, चूर्णी, निर्युक्ति ।
(१४) पंच कल्प महाभाष्य
(१५) प्रश्न व्याकरण सूत्र, टीका
(१६) उपासक दशांग सूत्र, टीका
(१७) अन्तकृद्दशा सूत्र, टीका
(१८) अनुत्तरौपपातिक सूत्र, टीका
(१९) विपाक सूत्र, टीका
(२०) भवभावना प्रकरण, स्वोपज्ञ सटीका
(२१) पंचाशक प्रकरण सटीक
(२२) धर्मबिन्दु प्रकरण सटीक
(२३) बृहत्संग्रहणी, मलयगिरिकृत टीका
(२४) बृहत्क्षेत्र समास प्रकरण
(२५) विभक्ति विचार
(२६) प्रवचनसारोद्धार सटीक
(२७) मुनिसुव्रत स्वामि चरित्र
(२८) समराइच्च कहा
(२९) धन्य शालिभद्र चरित्र
(३०) पउम चरियं
(३१) त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र
(३२) पार्श्वनाथ चरित्र (देवभद्र)
(३३) सिद्धहेमशब्दानुशासन लघुवृत्ति
(३४) छन्दोग्रन्थ २ जयदेव आदि कृत
(३५) काव्य प्रकाश सटीक
(३६) अभिधा वृत्ति मातृका
(३७) अलंकार दर्पण
(३८) कविकल्पलता विवेक
(३९) गोडवध महाकाव्य (वाक्पतिराज) सटीक
(४०) वासवदत्ताख्यायिका
(४१) तत्वसंग्रह, पंजिका समेत
(४२) न्याय कन्दली, टिप्पणक
(४३) प्रशस्तपाद भाष्य
(४४) न्यायावतार वृत्ति, टिप्पणक
(४५) न्याय प्रवेश, वृत्ति, पंजिका
(४६) पंच प्रस्थान न्यायटीका
(४७) अनेकान्तजयपताका टिप्पणक
(४८) प्रमालक्ष्म
(४९) " धर्मोत्तर टिप्पणक

८—कुछ ग्रन्थों की नकल करवाई गई। ये ग्रन्थ या तो अपूर्व हैं या प्रति की दृष्टि से मूल के निकट है। वे ये हैं—

(१) प्रज्ञापना सूत्र
(२) ओघ निर्युक्ति महाभाष्य
(३) विशेषावश्यक महाभाष्य
(४) ज्योतिष्करंडक टीका पादलिप्तकृत
(५) दशवैकालिक चूर्णी–अगस्त्य सिंह
(६) पृथ्वीचन्द्र चरित्र (प्राकृत)
(७) सर्वसिद्धान्त प्रवेश
(८) प्रमाणान्तर्भाव (बौद्ध)
(९) सांख्य सप्ततिका (सटीक)
(१०) " (दूसरी टीका)



(११) कविकल्पलता पल्लव विशेष-विवेक
(१२) प्रकरण स्तोत्रादि संग्रह इसमें अनेक प्रकरण ग्रन्थ हैं।
(१३) नंदि चूर्णी
(१४) सन्मतितर्क (द्वितीय खण्ड)
(१५) मुनि सुव्रत चरित्र (प्राकृत)
(१६) अनुयोग द्वार सूत्र

इस वर्णन से यह ज्ञात हो जायगा कि केवल लिखित-मुद्रित ग्रन्थों में से अवतरण लेकर उनके आधार से निबन्ध लिख देना इतना ही संशोधन का अर्थ नहीं है। बल्कि प्रतियों की प्राचीनता का यथावत् मूल्यांकन करके तदनुसार पाठशुद्धि की व्यवस्था करना और उस उस विषय से सम्बद्ध सब बातों की गवेषणा करना एवं संशोधन की आधारभूत प्राचीन सामग्री की खोज, उसकी सुरक्षा एवं सर्वोपयोगी सुलभता की दृष्टि से व्यवस्था इत्यादि बातों का भी उसमें समावेश होता है।

---

( २ )

जिनका उल्लेख इस व्याख्यान में नहीं है ऐसे मुद्रित ग्रन्थ—

जैन कल्चरल रिसर्च सोसायटी द्वारा प्रकाशित—

१—गुजरात का जैन धर्म—मुनि श्री जिनविजय जी
२—जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार—श्री फतहचन्द्र बेलानी
3—Jainism—The Oldest Living Religion—J. P. Jain; M. A, LL. B.

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, द्वारा प्रकाशित—

१—वर्द्धमान (महाकाव्य) महाकवि अनूप शर्मा
२—नाममाला (सभाष्य)—धनञ्जय कृत
३—कन्नड़ प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थ सूची—के० भुजबली शास्त्री
४—कुरल काव्य (तामिल लिपि में)—ए० चक्रवर्ती
५—केवल ज्ञान प्रश्न चूडामणि
६—जातकट्ठ कथा

श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला के प्रकाशन—

१—जैत तीर्थोनो इतिहास—स्व० मुनि श्री न्यायविजय जी
२—पट्टावली समुच्चय, भाग दूसरा—श्री दर्शनविजयजी
३—क्षत्रियकुंड—श्री दर्शनविजय जी

श्री यशोविजय जैन ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित—

१—पूर्व भारत जैनतीर्थ भूमिओ स्व० मुनि श्री जयन्तविजय जी

अन्य प्रकाशन—

१—योगदृष्टि समुच्चय (विवेचन)—विवेचक—डॉ० भगवान दास मेहता

२—द्वादशार नयचक्र, दो भाग सं० लब्धिसूरि

३—अपभ्रंश प्रकाश प्रो० देवेन्द्रकुमार M.A.,

४—महावीर स्मृति ग्रन्थ सं० श्री कामताप्रसाद जैन

५—तत्त्वसमुच्चय सं० प्रो० हीरालाल जैन

६—तरंगवती कथा

७—जैनागमों में स्याद्वाद—सं० उपाध्याय आत्माराम जी

शीघ्र ही प्रकाशित होने वाले सिंघी जैन ग्रन्थमाला के ग्रन्थ—

१—खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली

२—कुमारपाल चरित्र

३—विविध गच्छीय पट्टावली संग्रह

४—जैन पुस्तक प्रशस्ति भाग २

५—विज्ञप्ति संग्रह

६—गुणपालकृत जंबूचरित्र (प्राकृत)

७—जयपाहुड़

८—गुणचन्द्रकृत—मंत्री कर्मचन्द्र वंश प्रबंध

९—नयचन्द्र कृत हम्मीर महाकाव्य

१०—नर्मदा सुन्दरी कथा

११—काव्य प्रकाश, खंड १ (सिद्धिचन्द्र)

( ३ )

पत्र पत्रिका आदि में लेख—

Jain Antiquary Vol XV 1, 2

(1) The Jaina Critique of the Buddhist Theories of Pramāṇa
—Prof. H. M. Bhattacharya



(2) History of Mathematics in India From Jaina Sources
—Dr. A. N. Singh

(Cont. Vol XVI)

Vol XVI. 1-2

(3) Three New Kushan Inscriptions
—Syt K. D. Bajpai

(4) Jaina temples, monks and nuns in Poona
—Syt S. B. Deo

(5) Authors of the Names of Pūjyapad
—J. P. Jain

Indian Historical Quarterly Sept. 1950

(1) Gleanings from the Kharatargaccha Pattavali
—Dasharath Sharma

(2) Dramaturgy found in the Mahapurāṇa of Puṣpadanta

March 1951.

(3) Sources of Hemchandra's Apabhranśa quatations
—S. N. Ghosal

New Indian Antiquary (April-June 1947)

(1) Further Contribution to the History of Jaina Cosmography and Mythology
—Dr. Z. Alsdorf

श्री विश्वबन्धु द्वारा संपादित 'सिद्ध भारती' में जैनधर्म और प्राकृत भाषा से संबद्ध अनेक लेख हैं। उनके लेखक हैं डॉ० एस० के चेटर्जी, डॉ० बनारसी दास जैन, डॉ० सुकुमार सेन, डॉ० उपाध्ये, श्री प्रभुदत्त शास्त्री, डॉ० मिराशी, डॉ० राघवन्।

एम्० एम्० पोद्दार स्मारक ग्रन्थ में डॉ० उपाध्ये का 'जैन और जैनधर्म' के विषय में एक लेख है।

श्री वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ में अनेक लेख जैनधर्म से संबंध रखते हैं।

भंग भी नहीं कहा है यानी साधूपने में दोष भी नहीं कहा है. बल्कि सूत्रदशा श्रुतस्कंधजी के पंचमा अध्ययन में दशप्रकार की भाव धर्म की चित्त समाधि कही. उसमें यथातथ्य स्वप्न तीसरी चित्त समधि में है. वहां पर ऐसा लेख है कि. श्रमण भगवंत महावीर स्वामी. वाणिज्य ग्राम नगर के दूत पलाश नामा चैत्य यक्षालय. तहां समोसर यानी पधारे. धर्म देशाऽनतर भगवंत अपने साधू साध्वी को आमन्त्रण यानी बुला के. कहते भए कि हे आर्यो इस जिनशासन में निश्चय करके साधू साध्वी को दश प्रकार के चित्त समाधि के स्थान उत्पन्न होते है यानी प्राप्त होते है वह साधू साध्वी कैसे कहे कि इरिया समिति वंत यानी ३॥ हस्त मार्ग को देखते चले भाषा निखद्य विचार के बोले. निर्दोष आहार यानी भोजन पान के लेने वाले भंडोपगरण यानी वस्त्र पात्रादिक यत्नसे ग्रहण करे, और स्थापै विष्टा-मूत्र-श्लेष्म, प्रसेव, नाक का मेल इत्यादिकों को परिष्ठावन. यानी यत्नसे नाखे ( परठे ) कि जिसमें कोई जीव को घात द्वेष, यादुगंछा न उपजे मनको सम्यक् प्रवृत्तावे, कायाको सम्यक् प्रवृत्तावै और मन वचन कायाको पापसे गोपके प्रवृत्तावै, पंच इन्द्रिय को गोपनहार यानी जितेन्द्रिय नव वाड़सहित ब्रह्मचर्य को धारण हारे कूं, यहां तक तो हमने ग्रंथबढ़ने के भयसे सूत्रपाठ का भावार्थ ही लिखा है, अब आगे को सूत्रपाठ अर्थ सहित भी थोड़ासा लिखते हैं सो चित्त लगाके एकाग्र मनसे श्रवण करिये ॥ सूत्रपाठ ॥

आयट्ठीणं, आयहियाणं, आय, जोइणं, आय परिक्कमाणं, पक्खिय, पोसहिये, सु, समाहि, पत्ताणं, झियाय, माणाणं



इमाइं, दश, चित्त, समाहि, ट्ठाणाहिं, असमुप्पण, पुव्वाय, संमु, पज्जिज्झा, तंजाहा, धम्मचिंतावासे, असमुप्पणपुव्वा, सुमुप्पज्जेज्झा, सव्व, धम्मं, जाणित्तए ॥ १ ॥ सन्निणाणे, वासे, असमुप्पणपुव्वे, समुप्पज्जेज्झा, अहंसरामि, अप्पणो, पोराणिय, जाती, समारीत्तए, ॥ २ ॥ सुमिण, दंसणे, वासे, असमुप्पणपुव्वे, समुप्पज्जेज्झा, आहा, तच्च, सुविणं पासित्तए ॥ ३ ॥

अस्यार्थः-आयठीणं के० ) मोक्षनाअर्थी एतलै दीर्घ कालनी तिथिना अर्थी.

आयहियाणं के० ) ३६३ पाखंडो तेहनो संग बर्जवोते आत्माना हेतु,

आयजियोणं के० ) आत्मा ना प्रकाशवंत.

आयपरिक्कमाणं के० ) आत्मा सुख भणी प्राक्रम फोरइ एवा प्राक्रमी ।

परिवय पोसहिए के ) पक्षी ते अर्द्धमास तिके पक्षी तेहनो पोसो उपवास करइ धर्म ते पोषे ते पोसो कहिये-सुसमाहि, पत्ताणं के० ) पोसो करवइ भली समाधि पामी छइ तेह नइ झियाय, माणाणं, के० ) धर्म शुक्ल ध्यानना ध्यावणहार इमाइ के० ) ए आगलि कहै स्ययंते ।

दश के०) दस संख्या चित्त के० ) चित्त ने समाहि ठाणाइ के० ) समाधिथानिक भाव समाधिना थानिक असमुप्पण, पुव्वाय के० ) किवारे पणि अतीत वाले पूर्वइ जीवनइ उपना न थी एतले पाम्या नथी ते ।

समुप्पज्जिज्झा के० ) उपजइ-तंजाहा के० ) तेजीम छै तिम कहे छै पूर्व गुण सहित साधु साध्वी ने धम्म, चिंता-

वास. के० ) धर्मनी चिंता ते जीव द्रव्य अजीव द्रव्य तेह विषय चिंता जे नित्य छै किंवा अनित्य छे रूपी छे किंवा अरूपी छे एहवीं चिंता असमुप्पण, पूव्वा, के० ) पूर्वइ उपनी न थी तेहनेइ समुप्पज्जेझा के० ) उपजे तिवारे सव्व, धम्मं, जाणित्तए, के० ) सर्व धर्म जाणे तिवार परवा दीनाधर्म अ- सोभनीक पूर्वा परे विरुद्ध माटे श्री जिन धर्म निर्वाण हेतु जाणे ॥ १ ॥

सन्निनाणे, वासे के० ) सम्यक् पुकारइ जाणे ते संज्ञी पंचेंद्री मन सहित तेहने जाति स्मरण असमुप्पण, पुव्वे, के० ) पूर्वे उपनो तो नहीं।

समुप्पज्जेझा के० ) ते जाति स्मरण सम्यक् प्रकारे प्रगट होइ अहसराधि के० ) हुं पूर्व भव नै विषइ एहवो हतोते संभारे अपेणा, पोराणिय, के०) आपणी पाछला भवनी जाती, सारीत्तए, के० ) जाति नइ पूर्व भव में हुं कुण हुतो संभारे ॥ २ ॥

सुमिण, दंसणे, वासे के० ) स्वप्न नो देखन उते स्वप्न दर्शन जिम भगवंतइ भगवती सूत्र शत १६ उ० ६ स्वप्न ना फल कह्या ते हवा यथातथ्य।

असमुप्पण, पुव्वे, के० ) अतीत काले उपनान थी समुप्पज्जेझा के० ) ते उपजे देखेइ श्रीवीरनी परइ-आहातच्च, सुविणं पासित्तये. के० ) यथातथ्य स्वप्न देखै तेह वोहीज फल पामइ ॥ ३ ॥ इति सूत्रार्थः ॥

अब हे मित्रों ज्ञान नेत्र खोल के देखो कि यहां सूत्र के मूल पाठ में श्री भगवान् ने अपने साधु साध्वी को बुला के



कहा कि इन जिन शासन के जो निर्दोष चरित्र के पालनेवाले और ज्ञान दर्शन चारित्र की समाधि वाले और धर्म शुक्ल ध्यान के ध्यावने वाले ऐसे महा गुणवान् साधु साध्वी को दश चित्त समाधि के स्थान यानी भाव धर्म प्राप्ति के स्थान जीव को गए काल मे कभी उत्पन्न न हुए ऐसे अपूर्व महा कल्याणकारी उत्पन्न हुए तिन दश चित्त समाधि यानी भाव धर्म की समाधि के स्थान में यथातथ्य स्वप्न का देखना तीसरी चित्त समाधि में श्रीमुख से परमेश्वर ने फरमाया है तो फिर हे भव्य तुम लोग ऐसे यथातथ्य स्वप्न देखने में श्री भगवान को चूक जाना या पाप लगना कैसे कहते हो और पुस्तकों में छापते हो।

पूर्वपक्ष-हमारे को तो हमारे पूज्य जी ने जैसी धारणा कराई है तैसी ही हमने पुस्तकों में छपवाई है.

उत्तरपक्ष-हे भव्य अवश्य तुम्हारे पूज्य जी ने ऐसी सिद्धांत विपरीत धारणा तुमको कराई होगी. परंतु तुम लोग पूज्य जी के कपोल कल्पना को ही सत्य मानते हो. कि श्री त्रिलोकीनाथ महावीर प्ररूपे सिद्धांत को सत्य मानते हो.

पूर्वपक्ष-सत्य तो हम अर्हंत प्रभु प्रणीत ( प्ररुपे ) सिद्धांत को ही मानते हैं परंतु यह दशा श्रुतस्कंध सिद्धांत का पाठ हमारे पूज्य जी ने क्या नहीं पढा. जो ऐसे महाकल्याणकारी चित्त समाधी भावधर्म की प्राप्तिरूप यानि श्री भगवान् महावीर प्रभु ने देखे तिन स्वप्नों को मोहकर्म के उदय में और श्री भगवान् को चूक जाने में हमको कैसे सिखाया. शायद हमारे पूज्य जीने इस दशाश्रुतस्कंध के सूत्रपाठ की टीका

में कोई दूसरी तरह का अर्थ होवे. उससे हमको धारणा कराई होगी तो क्या जाणिये. क्योंकि हमारे भ्रम विध्वंसन में दशा श्रुतस्कंध की टीका की साक्षी १ महिने की साधू की पडिमा को अधिकार में दी है सो हमको टीका दिखलाओ.

उत्तरपक्ष-हे भाई ग्रंथ बहुत बढ जावेगा तथापि तुम्हारी शंका दूर करने को हम टीका लिखते हैं सो सुनिये.

टीका-समाहिपत्ताणंति. समाधि प्राप्तानां ज्ञानदर्शन चारित्र रूप समाधिवतां. झियायमाणंति-धर्म शुक्ल ध्यान ध्याय मानानां. इमोइंति मानि अनंतर वक्ष्यमाण स्वरूपाणि दश चित्त समाधि स्थानानि. अस मुप्पण पुव्वाइंति असमुत्पन्न पूर्वाणि इत्यर्थः समुत्पद्यरन्नितिशेषः तद्यष्टाधम्मेत्यादि सेत्ति निर्दिशे तस्य एवं गुणजातीयस्य निग्रंथस्य. निग्रंथ्यावा. धम्मचिंतति धर्मोनाम स्वभावः जीव द्रव्याणामजीव द्रव्याणां चताद्विषया चिंता कथंरूपा अमीनित्या उतानित्या रूपिण उतारूपिण इत्यादिरूपा. असमुप्पण पुव्वति प्राग्वत्सत्यं धर्म ज्ञातुं अथवा धर्म चिंता यथा सर्वेकुसमया अशोभना अनिर्वाह का पूर्वा पर विरुद्धाः॥ अथसर्वेषु धर्मेषु शोभन तरोयं धर्मो जिन प्रणीतः एवं रूपा इत्येक १ सणीत्यादि सम्यग् जानातीति संज्ञः तस्य यत् ज्ञानं संज्ञि ज्ञानं यथा पूर्वान्हे गां दृष्ट्वा पुनरपरान्हे प्रत्याभिजानीते असौ गौरिति अप्पणेत्यादि प्राग्वत् अहं सरामीति अहं स्मरामि अमुकोहं पूर्वभवे आसं सुदर्शनादिवत् इति ॥ २ ॥

सुमिणेत्यादि स्वप्न दर्शनं यथा भगवतो बर्द्धमानस्वामिनः भगवत्यांप्रतिपादितं स्वप्न फलं तथा. अथ स्त्रीं वा पुरुष वा एकां मह-



तीं हय पंक्तिं आहा तच्चंति यथातथ्य फलं स्वप्नं दृष्टुं जाति स्मरणं आत्मनः पौराणिगकी जातिंस्मर्तु चिंता उत्पद्येत ॥ इति टीका ॥

टीकार्थः-समाधि को प्राप्त अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, रूप, समाधि वाले और धर्म शुक्लध्यान को ध्याने वाले ऐसे मुनियों के अग्रे कथन करेंगे स्वरूप जिनका ऐसे दश चित्त समाधि के स्थान पूर्व नहीं उत्पन्न भये ऐसे वह उत्पन्न होवे. ऐसे गुण विशिष्ट जो निग्रंथमुनि और निग्रंथी साध्वी तिनकी धर्म चिंता धर्म नामस्वभाव तिसकी चिंता अर्थात् जीव द्रव्य विशयक चिंता कैसीक चिंता यह जीव द्रव्य अजीवद्रव्य नित्य है कि अनित्यहै, रूपी है कि अरूपी है. इत्यादि रूप चिंता. अस मुप्पण पुव्वति. इति पूर्ववत्सत्य धर्म जानने को अथवा धर्मचिंता जैसे जैन अतिरिक्त संपूर्ण कुसमयहै अर्थात् शोभायमान नहीं है. अनिर्वाहक अर्थात् अपने कथन को सिद्ध नहीं कर सके ! पूर्वापर विरुद्ध ऐसे अतः इसी कारण से संपूर्ण धर्मों के विषय जिन प्रणीत धर्म है सो ही शोभायमान है. । १ ।

सणी इत्यादि. सम्यग् जानातीति संज्ञः अच्छी तरह से जो जाणे उसको संज्ञ कहते हैं. तिसको जो ज्ञान उसको संज्ञीक ज्ञान कहतेहैं. जैसे प्रातःकाल गौ देख करके फिर सायं काल में जानता है कि यह गौ है. अप्पण इत्यादिक पूर्ववत् मैं स्मरण करताहूं कि पूर्वभव में अमुक में होताभया सुदर्शनादिकों की नांई ॥ २ ॥

सुमिणत्यादि स्वप्न दर्शन जैसे श्री भगवान् बर्द्धमान् स्वामी का भगवती जी में प्रतिपादन यानि कथन किया तैसे अथ स्त्रीको वा पुरुष को एक बडी घोडों की पंक्ति यथाथ्य

स्वप्न को देखने की जाति स्मरणं अर्थात् अपनी पौराणि की पुनर्भव की जाति को स्मरण कराने को चिंता उत्पन्न करता है. ॥ इति टीकार्थः ॥

अब हे मित्रों! इस सूत्र की टीका भी देखो यहां टीका में तो खुलासा कहा कि महा निर्मल चारित्र के पालने वाले धर्म शुक्ल के ध्यान के ध्याने वाले ऐसे मुनि को दश प्रकार का चित्त समाधि भाव धर्म की उत्पत्ति यानि प्राप्ति होवे तिसमें यथातथ्य स्वप्न का देखना सूत्र भगवतीजी का १६ मा शतक के छटे उपदेश में जैसे यथा तथ्य स्वप्न का फल भगवन् वर्द्धमान स्वामी को हुवा तैसे ही यथातथ्य स्वप्न का फल होता है और बड़ी यह घोड़ों की पंक्ति आदि देख उनको यथातथ्य स्वप्न कहिये. सो अगाड़ी हम सूत्रों से लिख दिखा वेंगे तो फिर हे मित्रों तुम यथातथ्य स्वप्न को देखता मोह कर्म के उदय में या भगवान् को चूक जाने में कैसे कहते हो

पूर्वपक्ष-ऐसे यथातथ्य स्वप्न को देखने में क्या फल प्राप्ति होवे या क्या आत्मा का कल्याण यानी संसार के जन्म मरण के दुख मिटे ॥

उत्तरपक्ष-हे भव्य इस यथातथ्य स्वप्न को देखने से श्रीभगवान् को महा कल्याणकारी संसार समुद्र के तिरणे का फल प्राप्त हुवा है और इसी दशा श्रुतस्कंध के पांचवें अध्ययन में दशही चित्त समाधि की गाथा बद्ध परूपणा विशेष महत्वता के लिये फरमाई है तिसकी तीसरी गाथा में यथा तथ्य स्वप्न को देखने से जैसा फल होता है।

वैसा सूत्रपाठ से लिखते हैं सो ध्यान लगा के सुनिये



सूत्र-आहातच्चं तु सविणं, खिप्पं पासति,संवुडे ससव्वंवा, उहंत रति, दुखा, दोयवि, सुचति ॥ इति ॥

अस्यार्थः—आहातच्चं के०- यथातथ्य ते- सुविणं. के०- स्वप्नएतलै सफल एहवो स्वप्न । खिपं. के-' तेतत्कालइ पासति के०' देखइ-संवुडे के०' संवर द्वारनोधनी साधु- सव्वं' बाउ, हतंति. के०. सर्वते निःशेष एहवो ओघ कहिए संसार समुद्रनी परे समुद्र अपार एहवा संसार समुद्र नइतरई एतले पूनरपि संसारी न थाय. कर्मना अभाव थकी दुखादोय के०' दुख ते शरीरी मानसीथ की विमुचति के०'-मुकाइ अथवा विविध प्रकारना दुख थकी मुकाइ ॥ इति सूत्र गाथार्थः ॥

अब देखिये देवानुप्रिया जी श्री भगवंत ने फरमाया कि यथातथ्य स्वप्न के देखने से मुनि संसार समुद्र को तिरे और दुख रहित होवे यह सूत्र के मूल पाठ में कहा. तो हे भव्यों! अब तो विचार लो कि ऐसे मोक्ष फल के देने वाले स्वप्नों को मोह कर्म के उदय में कह के श्री भगवंत महावीर प्रभु ने यथातथ्य दश स्वप्न केवल ज्ञान लाभादि के देने वाले देखे, तिसमें तुम परमेश्वर को चूके या पाप लगने का महा भयंकर आल चढा के तीर्थंकर भगवान् की आशातना क्यों करते हो? भाई संसार का भय होवे तो अब भी छोड़ दो तथा इस चित्त समाधि की तीसरी गाथा की वृत्ति यानी टीका में भी ऐसा खुलासा है कि ऐसे चरम तीर्थंकर वर्द्धमान स्वामी ने दश स्वप्न देखे और तत्काल फल को प्राप्त हुए और संसार समुद्र को तिरके मोक्ष प्राप्त होने का फल को प्राप्त हुए सो टीका लिखते हैं सो सुनिये।

तथा च टीका—अहावचंति यथातथ्यमवि संवादि फलं यतत्रथा तथ्य मित्युच्यते यथा चर्म तीर्थं कृता दश स्वप्नादृष्टाः शीघ्रंच फलप जनि तथा ऽपिं फलदं पश्यति संवृतात्मा निरुद्धां श्रवद्वारः सर्वं निरविशेषं च शब्दः स्वगतानेक भेद सूचकः ओघं संततं प्रवृत्त प्रवाहं संसार समुद्र मिव समुद्रं अप्राप्य पारं एवं विधस्तरति न पुनः संसारी भवति दुःख दो यस्ति दुःखाद्दुःखोत्पाद कर्मणः शरीर मानसिकाद्यावि विधानेक प्रकारान्मुच्यते ॥ इति गाथार्थः ॥

अथ टीकार्थः—अवि संवादि जो फल यानी सत्य है फल जिसका उसको यथातथ्य कहते हैं जैसे चर्म तीर्थंकर ने दश स्वप्न देख और शीघ्र फल प्राप्त हुआ तथा तैसे ही शीघ्र फल देने वाले ऐसे स्वप्न को देखता है वह कौन है, रोका है आश्रवद्वार जिसने ऐसा पुरुष फैल रहा है प्रवाह जिसमें ऐसा संसार समुद्र की सी नांहि समुद्र नहीं प्राप्त है पार जिसका ऐसे संसार समुद्र को इस प्रकार का मनुष्य तिरता है फिर संसारी नहीं होता है दुःख का उत्पादन करने वाला जो कर्म अथवा शरीर का मन का दुःख अथवा अनेक प्रकार का सांसारिक दुख तिससे मुक्त होता है ॥ इति टीकार्थ ॥

अब देखो यहां टीका में भी श्रीभगवान् महावीर स्वामी जी के दश स्वप्न यथातथ्य महा कल्याणकारी संसार समुद्र का तिरके मोक्ष सुख के दायक कहे हैं और तुम तेरे पंथी लोग यथातथ्य स्वप्न को मोह कर्म के उदय में या चूक जाने में पाप लगने में कहते हो सो इत्यादि किस सूत्र के टीका अर्थ से कहते हो. हे प्रिय वर्गों! अब तो सोचो कि जिस स्वप्न का



फल भगवंत कर्म क्षय और मोक्ष का श्रीमुख से फर्माते हैं. तो फिर इससे ज्यादा लाभदायक क्या फल है. सो बुद्धि से विचार के परमेश्वर की आशातना का छोडना उचित है. और इसही चित्त समाधि में अपूर्वी धर्म १ जातिस्मरण ज्ञान २ यथातत्थ स्वप्न ३ देवदर्शन ४ अवधिज्ञान ५ अवधिदर्शन ६ मनः पर्यज्ञान ७ केवलज्ञान ८ केवलदर्शन ९ केवलमरण १० यह दश बोल कहे हैं, तो फिर दशमें से एक तो बुरा और ९ अच्छा ऐसा कौन बुद्धिमान् मनमानी कल्पना करे. अपितु कभी नहीं करे. और श्रीभगवंत ने दशही बोलों को भाव समाधि धर्म शुक्ल ध्यान में फुरमाये हैं वैसेही श्रद्धे और जो अपने गुरुजी ने यथातथ्य स्वप्न चित्त समाधि को सिद्धान्त से विरुद्ध मोह कर्म के उदय में या भगवंत को चूक जाने में धराई. उसका हिसाब अपने गुरुजी से समझे जो कि ऐसी विरुद्ध धारणा कराई येही बुद्धि पाने का फल है.

पूर्वपक्ष—कदाचित हमारे गुरुजी कहदेवें कि भगवंत ने तो स्वप्न देखने से चित्त समाधि होवे. उसकी आज्ञा फुरमाई है. परंतु स्वप्न देखने की नहीं, क्योंकि इस चित्त समाधि में देव दर्शन की तारीफही न करी. किंतु देवदर्शन से चित्त में समाधि धर्म की श्रद्धा बढे उसकी तारीफी करी है, आज्ञा दी है।

उत्तरपक्ष—हे भव्य! जो कदाचित् तुम्हारे गुरुजी ऐसा भी कहदेवे कि यथातथ्य स्वप्न की या देवदर्शन की तारीफी भगवंत ने नहीं की, आज्ञा नहीं दी. तब तो तुम्हारे गुरुजी अपनी श्रद्धा को आपही नष्ट करनेवाले ठहरेंगे, क्योंकि तुम्हारे गुरुजी की श्रद्धा ऐसी है कि भगवान् की आज्ञा बाहिर कामों में

किंचित्मात्र धर्म पुन्य नहीं होता है संशय होवे तो तुम्हारे गुरु जी कृत हितशिक्षावली में लिखा है सो देखलेना. सो गाथा लिखते हैं-जिह कार्यनी केवली आज्ञा नहीं दी कोय। धर्म पुन्य नहि ते हमैं हिय विमासी जोय, ॥ १२६ ॥ अब देखो यहां तुम्हारे गुरुजी यथातथ्य स्वप्न को और देवदर्शन को परमेश्वर की आज्ञा बाहिर मानेंगे तो आज्ञा बाहिर कामों में तुम्हारे गुरु जी चित्त समाधि धर्म ध्यान कैसे मानेंगे, कदाचित् अब तुम्हारे गुरु जी यथातथ्य स्वप्न को मोह कर्म के उदय में स्थापना के लिये यथातथ्य स्वप्न को आज्ञा बाहिर कहदेवे तो फिर यथातथ्य स्वप्न से चित्त समाधि धर्मध्यान का लाभ मानने से वह श्रद्धा मिथ्या ठहरेगी कि ज्यो भगवान् की आज्ञा बाहिर किंचित्मात्र धर्म पुन्य नहीं, तथा तुम्हारे गुरु जी कदाचित् ऐसा भी कहदेवें कि हम तो यथातथ्य स्वप्न और देव दर्शन इन दोनों को चित्त समाधि धर्म ध्यान में मानेही नहीं, तब तो तुम्हारे गुरु जी चित्त समाधि के दश बोल में से आठ बोल को ही मानने वाले ठहरेंगे और २ बोल को नहीं मानेंगे तब तो प्रकट जिन वचनों के उत्थापक ठहरेंगे तो फिर जैन वचन के उत्थापने वाले में तो समकित भी नहीं है तो फिर तुम अपने गुरु जी में समकित विना साधूपना कैसे मानोगे और उनके शिष्य क्योंकर बने रहोगे तो जरा मध्यस्थ पना ग्रहण करके विचारना जी।

पूर्वपक्ष-जैसे यथातथ्य स्वप्न को महत्वता यानी तारीफ श्रीभगवान ने फरमाई है वैसी देवदर्शन की महत्वता सूत्र में है कि नहीं।



उत्तरपक्ष-हे भव्य देवदर्शन की महत्वता भी. श्रीभगवान् ने इसी दशाश्रुतस्कंध में पंचमाचित्त समाधिनामा अध्ययन में फरमाई है सो मूलपाठ से दिखलाते हैं॥

सूत्रगाथा-पत्ताइ, भयमाणस्स विवित्तं, सयणासणं, अप्प, हारस्स, देतस्स, देवदेसेति, ताइणो, ॥

अस्यार्थः-पताइ, भयमाणस्सके० अल्पमूलना अथवा जीर्ण तेह नइ सेवे एतले प्रांतना सेवनहार, विवित्तं, सयणासणं के०, स्त्री पशु पंडकर हित तथा जीव रहित सेय्या जीव रहित आसन· अप्प, हरिस्स, देतस्स. के०-अल्प आहार लेणहार नइ. इन्द्रीना दमण हारनइदेव, देसेति, ताइणो, के० देवतानो. दर्शन होइ छकायना रख पालनइ॥४४॥ सू. दशा. अ. पंचमा. इति सूत्रार्थ

अब विचारो भाई! इस सूत्र पाठ में देवदर्शन का महत्वता श्रीभगवान् ने श्रीमुख से फुरमाई है, कि जो मुनि आंत प्रात यानी अल्प मोल के वस्त्र पात्रादिकन का सेवन वाला और निर्द्वंद्व उपासरा, यानी मकान या पाट पटले आसन के सेवने वाले और अल्प आहार के करने वाले और छ काय जीव की रक्षा करने वाले, ऐसे महामुनि को देवदर्शन होवे यह प्रगट देव दर्शन की महिमा सूत्र में श्रीभगवान् ने फुरमाई है. सो बुद्धिमान् श्रद्ध लेवो कि देवदर्शन भी चित्त समाधि धर्म प्राप्ति के दश बोल में से चौथे बोल में है.

पूर्वपक्ष—सिद्धांत में अव्रती को आने जाने की तारीफी अनुमोदनी करनी वर्जी है इसहेतु से देवदर्शन नी तारीफी क्योंकर होवे--

उत्तरपक्ष—हे भोलेभाई! आने जाने का तो कथन यहां है

ही नहीं, तो फिर तुम बिनाही विचारे तर्कना क्यों करते हो. यहां तो देवदर्शन काहीज कथन है. आने जाने का नहीं.

उत्तरपक्ष—आने जाने बिना नहीं होवे परंतु आने जाने की प्रशंसा नहीं, देव दर्शन की प्रशंसा है. जैसे साधू को बंदना करने को गृहस्थ लोग कोई पैर से चलके, कोई सवारी करके, कोई स्नान करके आते हैं, क्योंकि आये बिना तो साधू को बंदना होना संभव नहीं होता है, परंतु भगवान् तो महत्वता यानी प्रशंसा, बंदना करने की दीज करी है, परंतु आने जाने की नहीं. सो सूत्र उत्तराध्ययनजी का २९ मा अध्ययन के दशमें बोल में कहा है सो सुनिये.

सूत्र—बंदण एणं, भंते, जीवे, किं जणइ; बंदण एणं, नीया; गोत्तं कम्मं, खावइ, उच्चा, गोयं, कम्मं, निबंधइ, सोहं, गांचणं, अप्पडिहयं, आणाफलं, निव्वत्तेइ, दाहिण, भावंचणं, जणयति. ॥ १० ॥ इति सूत्रपाठः

अस्यार्थ—बंदण एणं , भंते, जीवे, किंजणइ; के० बांदणआचार्यादि कानी उचित प्रतिपत्ति नइ करीवेकरी हे भगवंत जीव कीसुं उपजावइबंदण, एणं, नीया, गोतं, कम्मं, खवेइ, के० गुरु कहइ अधम कुल नइ विषै उत्पत्तिनु हेतु कारण. यहवूं नीचै गौत्र कर्म खपावइ-उच्चा, गोयं; कम्मं, निबंधइ, के० अने तीर्थंकर चक्रवर्त्यादिकन उकारण उच्चैर्गोत्र कर्म्म अतिशय करी बांधइ-सोहगां, चणं, अप्पडिहयं, आणाफलं, निव्वतेइ, के० वली सौभाग्य सर्व लोक नै स्पृहणीकपण, कोई हणी न सकइ यह वूं आज्ञा फल आज्ञा सारपणुं निवर्तावइ उपजावइ दाहिण भावं, चणं, जणयति, के० वली दक्षण भाव भाहीं



पारपरंतू लोकनइ अनुकूल पणूं उपजावइ ॥ इति ॥ सूत्रार्थ.

अब विचारना चाहिये कि इस सूत्र के मूलपाठ में बंदणा करने से उच्च गोत्र यानी उच्च कुल में उत्पन्न होणे रूप भगवंत ने बंदना करणे की प्रशंसा और महत्वता फुरमाई है. परंतु आने जाने की नहीं बस इस सूत्र के न्याय को विचार के समझ लेवो कि दशही चित्त समाधि भगवंत ने धर्म में कही है. समवायांग सूत्र का दशमा समवायांग में भी बहुत खुला सा है. दशही चित्त समाधि का तो अब यह सिद्धांत का मूलपाठ अर्थ टीका को अच्छी तरह से हृदय में विचार के अपना पूर्वपक्ष यानी हठबाद छोड़ना अच्छा है. जो हे भाई जैन सिद्धांत की आस्ता होवे तो छोड़ही देवोगे और अपने गुरुजी की कल्पना का ही हठ होवेगा तो अपनी २ इच्छा की बात है. इस असाध्य रोग की दवा तो किसी से ही नहीं बन सक्ती है. ॥ इति ॥

पूर्वपक्ष—हमने पृष्ट तीसरे की २६ मी पंक्ति से लेके पृष्ट चौथा की दूसरी पंक्ति तक लिखा है. कि प्रथम तो स्वप्न ही सावद्य कर्म में है. और इससे भी पिशाचों को जीतना और भुजा से समुद्र को तैरना विशेष ही सावद्य कर्म है. यह हमारा लेख है. इससे हम कहते हैं कि पिशाचों को जीतने से क्लेश और समुद्र तिरने से कच्चा पाणि का संघट्टहुवा इससे कैसे नहीं चूके. यह तो चूकने का प्रत्यक्ष कथन है.

उत्तरपक्ष—हे अल्पज्ञ मित्रो ! प्रथम तो यह तुम्हारा लेख तुम्हारे गुरु जीतमलजी से ही अत्यन्त विरुद्ध है. क्योंकि जीतमलजी ने तो यथातथ्य स्वप्न को सावद्य नहीं कहे है।

पूर्वपक्ष-अगर हमारे गुरु जीतमलजी यथातथ्य स्वप्न को सावद्य कर्म नहीं मानते तो फिर हमारे गुरु डालचंदजी ने हमको ऐसी धारणा क्यों कराई कि स्वप्न देखना ही सावद्य कर्म है. क्या हमारे गुरु डालचंदजी की श्रद्धा हमारे गुरु जीतमलजी से विपरीत होगई है. जो हमको हमारे गुरु जीतमलजी से विपरीत धारणा कराई.

उत्तरपक्ष-हे मित्रों ! तुम्हारे गुरु डालचंदजी की श्रद्धा तुम्हारे गुरु जीतमलजी की श्रद्धा से विपरीत हुई या नहीं तिसको तो तुम बुद्धिमान् होवो तो स्वयं समझ लेना. हमतो तुम्हारे हितार्थ के लिये तुम्हारे गुरु जीतमलजी ने यथातथ्य स्वप्न को जैसा माना है वैसा तुम्हारा ग्रंथ भ्रमविध्वंसन से दिखाते हैं ध्यान लगा के सुनिये. भ्रमविध्वंसनपत्र ७८ मा पृष्ठ पर लिखा है ( टीकाकार पीए इम कह्यौ छै संवृत श्चेह विसीष्ट तरसंवृक्त युक्ता अग्राह्या ) इहां टीका में पीए इम कह्यौ सांचो सुपनो देखो तो संवुडो विशीष्ट अत्यन्त निर्मल प्रणाम नो धणी. संवुडो ग्रहणो. इहां अत्यन्त निर्मल चारीत्र आश्री संवुडो सांचो सुपनों देखे कह्यो. इति भ्रमविध्वंसन का लेख.

यह देखो भाई तुम्हारे गुरु जीतमलजी ने तो माना कि अत्यन्त निर्मल चारित्रवान् मुनि यथातथ्य यानी सत्य स्वप्न देखे तो अत्यन्त निर्मल चारित्रवान् का कार्य तो सावद्य होता ही नहीं, क्योंकि सावद्य यानी पाप कार्य का कर्तव्य अत्यन्त निर्मल चारित्र के पारने वाले को कभी नहीं होवे तो स्पष्ट सिद्ध हुवा कि यथातथ्य स्वप्न का देखना सावद्य कर्म नहीं. तो हे बुद्धिमानो अब जरा विचारो कि तुम्हारे गुरु डा-



लचंदजी की श्रद्धा कैसे हुई जो तुम्हारे गुरु जीतमलजी की श्रद्धा से विरुद्ध तुम को स्वप्न देखना ही सावद्य कर्म में यानी पाप कर्म में और मोहनी कर्म के उदय में धारणा कराया. हे बुद्धिमानो ! न्यायवान् होवो, तो ज्ञान नाभ खोल के अच्छी तरह से विचारना. दूसरा यह भी लिखना विरुद्ध है कि भगवंत पिशाचों को जीते, क्योंकि सूत्र में तो ( रागं, महं घोर, रूवं, दित्तधरं, ताल, पिसायं ) ऐसा पाठ है यहां तो एक पिशाच को भगवंत ने जीता ऐसा लेख है और तुमने पिशाचों यानी बहुत पिशाचों को जीतना लिख दिया. यह जैन सिद्धांत से तुमने अति विरुद्ध लिखा, तथा जीतना भी कई तरह का है सिद्धांत ठाणांग के चौथे ठाणे का चौथा उद्देश में भी श्री भगवान् महावीरजी के ४०० साधु देवता मनुष्यों की प्रषदा को पराजय करने की अर्थात् जीतने की लब्धिधारी मुनि कहे हैं तो कहो वे मुनि देवता मनुष्यों को जीते तो क्या क्लेश करके जीते कि ज्ञानबल से ?

पूर्व पक्ष-ज्ञानबल से जीते.

उत्तर पक्ष-तो महावीर स्वामी ने भी पिशाच को पराजय किया ऐसा सूत्र में कहा परंतु क्लेश करा ऐसा सूत्र अर्थ टीका दिक कहीं भी नहीं कहा, सो सूत्र से व्यतिरिक प्ररूपणा करके भगवान् महावीरजी को क्लेश करने का आल देना अच्छा नहीं, भगवंत ने तो पिशाच को जीतने का स्वप्न देखा परंतु पिशाच से क्लेश किया ऐसा कथन तो कहीं भी नहीं और यह भी विचारो कि छद्मस्थ पने में पिशाच को जीते, और केवल पने में उसी पिशाच का जीतना यथातथ्य स्वप्न में

कहा और यथातथ्य स्वप्न का देखना चित्त समाधि रूप धर्म ध्यान में है ऐसी अति महत्वता श्रीमुख से कही तो फिर भगवंत तो महत्वता कहते हैं और तुम चूकना किस भगवान् का बचन से कहते हो और सिद्ध करते हो सो जरा बुद्धि से विचारो. और समुद्र का तिरना रूप समुद्र का समाधान ऐसे समझना. कि कच्चा पानी का संघट्ट नहीं करना भी भगवंत ने फुरमाया और कारण से नदी उतरने का भी विधिवाद श्रीभगवंत ने फुरमाया, तो भगवंत के विधिवाद आज्ञा से साधु भी नदी उतरते हैं और तुम भी साधुपने में कुछ भी दोष नदी उतारने का नहीं गिनते हो, तो फिर प्रत्यक्ष नदी उतरने से कच्चा पानी को उपमर्दन होने में तो तुम साधु को चूकना नहीं श्रद्धना हो तो फिर भगवंत तो स्वप्न में समुद्र तिरे परंतु साक्षात् समुद्र तिरे नहीं, तो भगवंत को चूके कहने में कितनी बड़ी आशातना होती है सो सोच के अब भी छोड़ देवो ?

पूर्वपक्ष-नदी का तिरना तो साधू को कारण से है और विधि आज्ञा भी है. परंतु समुद्र तिरण का क्या कारण है और विधि आज्ञा भी क्या है ?

उत्तर पक्ष-हे मित्रो ! तुमने दश स्वप्नों का फल सहित सूत्रपाठ भगवतीजी का १६ मा शतक का छठा उद्देश में या ठाणांग का दशमा ठाणा से अच्छी तरह से शुद्ध समकितवंत विद्वान् गुरुमुख से सुना होता तो यह तर्कना नहीं उत्पन्न होती परंतु खैर अब भी सूत्रपाठ एकाग्रचित्त से सुनिये कि भगवंत का तिरने का स्वप्न और पिशाच को जीतना रूप स्वप्न का



देखना सार्थक यानी परमार्थ सहित कहा कि निरर्थक कहा है सो सूत्रपाठ लिखते हैं सुनिये।

सूत्र-जणं, समणे, भगवं, महावीरे, एगं, महं, घोररूवं, दित्तधरं, ताल, पिसायं, सुविणे, पराजियं, पासित्ताणं, पडिबुद्धे, तंणं, समणेणं, भगवया, महावीरेणं, मोहणिज्जे, कम्मे, मूलउ, ग्घातिउं, ॥ १ ॥ जंणं, समणे, भगवं, महावीरे, एगं, महंसागरं, जावपडिबुद्धे, तंणं, समणेणं, भगवया, महावीरेणं, अणादीए, अणवदग्गे, जाव, संसार, कंतारे, तिणे इति सूत्रपाठः

अस्यार्थः-जंणं, समणे, भगवं, महावीरे, एगं, महं, घोररूवं, दित्तधरं, तालपिसायं, सुविणे, पराजियं, पासित्ताणं, पडिबुद्धे के जेह श्रमण भगवंत श्रीमहावीर स्वामी एक मोटो भयानक रूप दीप्ति धर ताल पिशाच प्रेत स्वप्न ने विषै जीतो एहवो स्वप्न ने विषे देखी ने जाग्या-तंणं, समणेणं, भगवया, महावीरेणं, मोहणिज्जे, कम्मे, मूलओ, घातिओ, के तेह समान श्रमण भगवंत श्रीमहावीरे मोहनीय कर्म मूल थकी घात कीधो ॥ १ ॥ जंणं, समणे, भगवं, महावीरे; एगं, महं सागरं, जाव, पडिबुद्धे, के जेह श्रमण भगवंत श्रीमहावीर स्वामी एक-मोटो सागर यावत् प्रति देखी जाग्या, तंणं, समणेणं, भगवया, महावीरेणं, अणादीए, अणवदग्गो, जाव, संसार, कंतारे, तिणे, के-तेह श्रमण भगवंत श्रीमहावीरे जेहनी आदि नहीं तथा जेहनी अंत नहीं यावत् संसार कांतार तिर्यो ॥ इति सूत्रार्थः ॥

यह सूत्र भगवतीजी और ठाणांगजी में एकसाही कथन है इति।

यहां सूत्र के मूलपाठ में कहा कि श्रीभगवान् पिशाच

को जीते तिस समान मोहकर्म को जीते और जो श्रीभगवान् समुद्र को तिरे तिस समान श्री भगवान् संसार समुद्र को तिरे तो हे बुद्धिमानो! जरा विचारो कि जिस स्वप्न के देखने से महाघोर जो मोहकर्म के जितने रूप और महा संसार रूप समुद्र तिरने रूप प्रयोजन है तो फिर इससे ज्यादा क्या कारण यानी परमार्थ श्रद्धने का प्रयोजन होता है सो जरा गंभीर बुद्धि से विचारो और यह भी ख्याल करो कि एक ग्राम नगर या देश में रहने से प्रतिबद्ध का प्रसंग करके चारित्र मलिन होजाता है इससे चारित्र का निर्मलपना रखने के वास्ते. साधू नदी आदिक उतर करके भी विहार करजाते हैं तथापि भगवन् की आज्ञा को उल्लंघन नहीं करते हैं और अन्यथा विना कारण से साधू एक बिंदुमात्र भी अपकाम की उपमर्दना करे तो सूत्र नसीथ जीका १२ मा उद्देश का ६ सूत्र में लघु चातुर्मास प्रायश्चित्त कहा है. तो विचारना चाहिये कि थोड़ी सी भी चारित्र की शुद्धि के वास्ते साधू नदी उतर जायतो दोष नहीं, तो फिर मात्र स्वप्न में समुद्र तिरने से संसार समुद्र को तिरजाय और मोक्ष का लाभ होवै उस परमार्थक स्वप्न को देखने में पाप लगना या चूक जाना कहना कौन बुद्धिमान् का काम है. हा अन्यथा अपकाम का संघट्टा से चारित्र बिराधना होती है. तैसे ही यथातथ्य स्वप्नके सिवाय विकलरूप जंजाल में विराधना होती है परंतु भगवंत जिस स्वप्न की महत्वता फुरमाई और प्रशंसा करी उसमें किसी तरह से दोष सिद्ध नहीं होता है.

पूर्वपक्ष-क्या आप नहीं जानते हो कि आवश्यक सूत्र में पगाम सिझाय की पाटी में ( सुयण, वत्तियाए ) ऐसा पाठ है.



इसमें प्रकट स्वप्न निद्रा में देखा होय तो मिच्छामि दुक्कडं इसी पाटी के अन्त में है तो फिर स्वप्न देखना अच्छा यानी श्रेष्ठ कैसे होवे.

उत्तरपक्ष-हे भोले भाइयों! इसका अर्थ तुमने अच्छी तरह से जाना. मूलपाठ में भी तुम्हारी दृष्टी नहीं पहुंची. परंतु हम तुम्हारे हितार्थ के लिये सूत्र पाठ सहित लिखते हैं सो सुनिये ॥

सूत्र-आउल, माउलाए, १ सूयण, वत्तियाए, २ इत्थि, विपरियासियाए, ३ दिट्ठी, विपरिया, सियाए, ४ मण, विपरिया, सियाए, ५ पाण, भोयण, विपरियासियाए,-इति ॥

अस्यार्थः—इस का टबा से भावार्थ ऐसा है कि भोग से आकुल व्याकुल चित्त विभ्रमही १ स्वप्नमाइं अनेक विध जंजाल देखवे करि २ स्वप्नां मांही स्त्रीके भोगों की वांछा ३ स्त्रीका स्नेह स्वप्नमांहि उत्पन्न होवे यानी सस्नेहरूप नजर स्वप्न में हुवे. ४ स्वप्नमांहि चो विहार उपवास में वस्तु भोजन पान करना. अकल्पनीक वस्तु खाना पीना. यह पूर्वोक्त वार्ता स्वप्न में होवे. उसको सुयण, वत्तियाए ऐसे कहते हैं. यह टबे का भावार्थ लिखा. अब टीका का भावार्थ संक्षेप से लिखते हैं. प्रथम ज्यो लिखे सूत्र के ६ पद हैं तिनमें आदि के २ पद यानी आउल, माउलाए, सूयण, वत्तियाए. इन दो पद की व्याख्या पीछे है और पीछे के चारपद यानी इत्थि, विपरियासियाए, १ दिट्ठी विपरियासियाए. २ मण, विपरियासियाए, ३ पाण, भोयण विपरियासियाए, ४ इन चारपद की व्याख्या पहिले है.

इससे व्याकरण के नियमानुसार अच्छी तरह से अर्थ होता है ( इत्थि, विपरियासियाए ) साधू को स्त्री नहीं सेवने योग्य है उसको सेवने के भावसे विपरियासिया, कहिए १ ( दिट्ठि, विप्परियासियाए ) स्त्रीका विपरीत पना करके दृष्टि विपरीत होय है.

( मण, विपरियासियाए ) दृष्टि विपरीत होने से मन विपरीत होता है मन स्त्री में नहीं रखणा. रखणेसे विपरीत होय है. ३ ( पाण, भोयण, विपरियासियाए, ) जो मन की विपरीतता सुं नहीं विपरीत होवे तो उस विपरीतता करके पान भोजन में विपरीत होय है. रात्रि में अथवा दिन में अकल्पनीक या एक भक्त से अधिक या उपवास में भोग लिया तो पाण, भोयण, विपरीयास हुवा ( सूयण, वत्तियाए ) यह पूर्वोक्त काम नहीं करने योग्य स्वप्न में करलेवे उसको स्वप्नवृत्ति यानी सूयण वत्तिया कहते हैं ५ ( आउल, माउलाए ) अति आकुलता करके साधू स्वप्न में काम भोग पर आकुला करे ऐसा मन स्वप्न में होवे उसको मिच्छामि दुकडा है. इति

इसकी मूलटीका आवश्यक जी सूत्र में देखलेना हमने यहां ग्रंथ गौरव के भय से संक्षेप से भावार्थ लिखा है अब बुद्धिमान् पुरुषों विचारो कि टीकाकारजी और टबाकार जी स्पष्ट रीति से लिखते हैं कि विपरीत काम का स्वप्न यानी स्त्री आदिक का संसर्ग करने से मिच्छामि दुकडा है तथा तुम्हारे भ्रमविध्वंसन में भी इस विषय का ऐसा अर्थ किया है.( सुयण वत्तियाए ) कहतां सुपना में जंजालादिक देखवे करी तथा आगलकह्यो ( पाण भोयण, विपरियासियाए ) कहतां सुपना में पाणी नो पीवो भोजन नो करवो ते अतिचार नो मिच्छामि



दुकड़ो. इहां स्वपना जंजालादिक जूठा साधूने आवता कहा है इति–

भ्रमविध्वंसन का पत्र ७९ ओली ३॥

वस ! यह लेख देखके विचारना कि यथातथ्य स्वप्न का भगवंतने किसी सिद्धांत में प्रायश्चित्त नहीं कहा है. वल्कि समवायांग भगवती, स्थानांग. दशाश्रुतस्कंध में यथातथ्य स्वप्न की भगवंतने प्रशंसा और संसार समुद्र तिरने का फल कहा है भावधर्मरूप चित्त समाधि में यथातथ्य स्वप्न कहा. और हे बाल मित्रो ! तुमने स्वप्न को एकांत सावद्यकर्म में कह दिया. वाहरे मित्रो ! तुह्मारा भोला पन, तुमने प्रत्यक्ष प्रमाण का भी कुछ ख्याल नहीं किया. कि प्रत्यक्ष में कईक साधू श्रावक समदृष्टि को ऐसे स्वप्न भी आते हैं कि स्वप्न में गुरु महाराज का दर्शन किया. और गुरु महाराज का व्याख्यान सुना, किसीसाधूने स्वप्न में स्वाध्याय किया. किसीने नोकारगुणा, कहो भाई यह कार्य सावद्य है कि निरवद्य है.

पूर्वपक्ष–गुरु महाराज का दर्शन करना, स्वाध्याय करना, नवकार स्मरण यह कार्य तो निरवद्य है.

उत्तरपक्ष–तो हे भाई ! तुम तेरे पंथियों ने ऐसा क्योंकर लिख दिया कि सब स्वप्न सावद्य कर्म है. अफसोस ३ है कि ऐसी प्रत्यक्ष बात का भी तुमको ज्ञान नहीं हुवा, तो फिर सिद्धांत की बात को क्योंकर समझ सकोगे और समुद्र तिरना पिशाच का जीतना, सावद्य कर्म कहते हो तो साधू का नदी उतरना, साध्वी जल में डूबती हुई को काढ़ लावे, यह सूत्र ठाणांग ५ मा उस दूसरा में कहा तो, तो कहो भाई यह प्रत्यक्ष

जल की उपमर्दन का कार्य निरवद्य कहते हो कि सावद्य. अगर कहोगे कि इन कामों की सूत्र में आज्ञा है. इससे निरवद्य है तो विचारो कि सूत्र में तो विधिवाद आज्ञा है. कि साधू कारण से नदी उतरे तो इस तरह से उतरना परंतु अवश्यमेव नदी को उतरनी ही चाहिये ऐसी आज्ञा नहीं. और चित्त समाधि को तो अवश्यमेव प्राप्त करने की सूत्र में श्रीभगवान ने एकांत आज्ञा फरमाई है. सो हमने ऊपर सूत्र के मूलपाठ से लिखा है. और यथातथ्य स्वप्न का देखना, चित्त समाधि को श्रीगुरु ने कहा है और हमने सूत्रके मूलपाठ से लिखदिया है सो समझ लेवो. भाई कि प्रत्यक्ष नदी उतरने से साधु को विराधिक बना नहीं तो यथातथ्य स्वप्न को देखना तो भावधर्म चित्त समाधिका कार्य है तो ऐसे उत्तम कार्य में तो चारित्र का विराधना या चूक जाना मुनि को होवे ही कैसे. अपितु, कभि नहीं होवे. चेतो चेतो चेतो. अब भी सूत्र बचन श्रद्धो यही आत्मा का कल्याण है. इति तजो हटवादं भजो अप्रमादं ॥ १ ॥

इतना सिद्धांत का पाठ सहित हमने खुलासा भव्य प्राणियों के हितार्थ के लिये किया है तथापि दश स्वप्न का फल सहित पाठ सर्व भव्यों के लिये या जिनका भगवंत के स्वप्न देखने में चूक जाने की शंका है उनके लिये विस्तार से सूत्रपाठ लिखते हैं

सूत्र ॥ जणं, समणे, भगवं महावीरे' एगं, महं, घोररूवं, दित्तधरं, तालपिसायं, सुविणे, पराजियं. पासित्ताणं, पड़िबुद्धे, तंणं, समणे, णं, भगवया, महावीरेण, मोहणिज्जं, कम्मे, मूलउग्घातिउ. ॥ १ ॥



जणं, समणे, भगवं, महावीरे, एगं, महं, सुकिलं, जाव, पड़िबुद्धे, तंणं, समणे, भगवं, महावीरे, सुक्कज्झाणो, वगए, बिहरइ ॥ २ ॥

जंणं, समणे, भगवं, महावीरे, एगं, महं. चित्तविचित्त, जाव, पड़िबुद्धे, तंण, समणे, भगवं, महावीरे, विचित्तं, ससमय, परसमय, दुवाल, संगं. गणिपिडगं, आघवेति, पणवेति, परुवेइ, दंसेई निदंसेइ उवदंसेइ, तंजहा, आयारं, सूयगडं, जाव, दिट्ठिवायं ॥ ३ ॥

जणं, समणे, भगवं, महावीरं, एगं महं दानदुगं, सव्वरयणामयं, सुविणे, पासित्ताणं, पडिबद्धे;, तंणं, समणे, भगवं, वहावीरे, दुविहे धम्मे, पणवेइ, तंजहा, आगार, धम्मवा. अणगार, धम्मं, वा; ॥ ४ ॥

जणं, समणे. भगवं, महावीरे, एगं. महं; सेयं, गोवग्गं, जावपड़िबुद्धे, तंणं समणस्स, भगवउ, महावीरस्य, चाउणाइं, समणसंथे, पणेत्त, तंजहा,-समणाउ, समणीउ, सावियाउं, सावियाउं ॥ ५ ॥

जणं, समणे, भगवं, महावीरे एगं, महं, पउमसरं. जाव-पडिबुद्धे, तंणं, समणे, जाव महावीरे, चउव्विहे, देवे, पन्नवेइ, तंजहा भवणवासी, वाणमंतर, जोइसिए, वेमाणिए, ॥ ६ ॥

जणं, समणे, भगवं, महावीर. एगं, महं सागरं, जावपड़िबुद्धे, तंणं समणेणं भगवया महावीरेणं अणादीए अणवदगो; जाव संसार कंतारे तिणे ॥ ७ ॥

जणं, समणे, भगवं, महावीरे, एगं महं, दिणयरं, जाव-

पड़िबुद्धे, तंणं समणस्स भगवउ, महाविरस्स, अणंते अणुत्तरे जाव केवल वरणाण दंसणे, समुप्पण ॥ ८ ॥

जणं समणेणं जाव वीरेणं एगं महं हरिय बेरुलिय जाव पड़िबुद्धे तंणं समणस्स भगवउ महावोरस्स उराला कित्तिवण सद्दसिलोयास देव मणुया सुरे लोगे, परिभवन्ति, इति, खलु, समणे भगवं, महावीरे इति खलु० २ ॥ ६ ॥

जणं, समणें, भगवं, महावीरे, मंदिरे, पव्वए, मंदिर, चूलियाए, जाव, पडिबुद्धे, तंणं, समणे, भगवं, महावीरे, सदेव, मणुया, सुराए, परिसाए, मज्झगए, केवली, धम्मं, आघेवइ, जाव, उवदं, सइ, ॥ १० ॥ इति सूत्रपाठ : ॥

सूत्र ठाणांग का दशवां ठाणा का यह पाठ है. और भगवती जी का १६ मां शतक का छठा उद्देश में भी ऐसा ही पाठ है. इसका अर्थ सुगमही है. तथापि संक्षेप से लिखते हैं.

जो भगवंत स्वप्न में पिशाच को जीता. तिस समान भगवंत ने मोहकर्म को घात किया ॥ १ ॥ अरु जो भगवंत उज्वलपंखवाला कोकिल पक्षी स्वप्न में देखा. तिस समान भगवंत शुक्ल ध्यान में अरूढ हो के विचरे. ॥ २ ॥ अरु जो भगवंत चित्र विचित्र पंखवाला कोकिल पक्षी स्वप्न में देखा. तिस समान भगवंत ने विचित्र स्वसमय के पर समय के भाव यानी कथन सहित द्वादश अंगरूप आचार्य की सिद्धांत की पेटी प्ररूपी. आचारांग से ले के यावद्दृष्टि वाद पर्यंत ॥ ३ ॥ अरु जो भगवंत एक रत्न की माला का युगल यानी जोड़ा स्वप्न में देखा. तिस समान भगवंत ने दो प्रकार का धर्म प्ररूपा-आगार धर्म, और अणगार धर्म ॥ ४ ॥ अरु जो श्रमण भगवंत ने



गोवर्ग यानी गायें का यूथ देखा. तिस समान भगवंत ने आकीर्णज्ञानादि गुण करके युक्त ४ वर्ण श्रमण संघ प्ररूपै साधु साध्वी, श्रावक, श्राविका, ॥ ५ ॥ अरु जो भगवंत १ मोटा पद्म सरोवर स्वप्न में देखा. तिस समान भगवंत चार जाति के देवता प्ररूपे. भवणपति, वाणमंत्रा, ज्योतकी, विमाणिक. ॥ ६ ॥ अरु जो श्रमण भगवंत महावीर जी एक मोटा समुद्र अनेक कलोलों से संकीर्ण को भुजा से स्वप्न में तिरे. तिस समान भगवंत अनादि अनंत दीर्घ चतुर्गति रूप महाअर्णव यानो संसार समुद्र को तिरे ॥ ७ ॥ अरु जो भगवंत एक मोटा दिनकर यानी सूर्य करणों करके देदीप्यमान स्वप्न में देखा. तिस समान भगवंत को जिसका अंत नहीं, प्रधान ऐसा केवल ज्ञान अरु केवल दर्शन उत्पन्न हुवा ॥ ८ ॥ अरु जो भगवंत एक मोटा वैडूर्य रत्नमय मानसोत्तर पर्वत को अपनी आंता से एक वीरवीटा, अनेक वीरवीटा, ऐसा स्वप्न देखा तिस समान भगवंत की उदार प्रधान तीन लोक में कीर्ति फैली ॥ ६ ॥ अरु जो श्रमण भगवंत महावीर स्वामी, एक मोटा मेहगिरि तिसकी चूल का ऊपर सिंहासन पर आप बैठे हुए स्वप्न देखा. तिस समान भगवंत देवता मनुष्यों की प्रषदा में बैठके धर्मोपदेश देते भये. ॥ १० ॥ इति संक्षेप स्वप्नार्थ. अब विचारो २ बुद्धिमानों की भगवंत के स्वप्न में देखने में कैसी महत्वता की श्लाघा और प्रधानता है कि जिन स्वप्नों को रात्रि के विषे देखे और दिन में केवल ज्ञान को प्राप्त हुए हैं क्योंकि सूत्र के पाठ में कहा कि छद्मस्थपने की छेली रात्रि में ऐसे ऊपर लिखे मुताबिक केवल ज्ञानादि महत्व फल का महास्वप्न आये हैं तो है

भाइ! अवतो चेत जावो,चेतजावो,सूत्र में, टीका में,अर्थ में,भगवंत के स्वप्न मोहकर्म में या चूक जाने में कहीं भी नहीं कहा है, तो हे मित्रों यथातथ्यस्वप्न को देखने से भगवंत को चूक जाने कहने रूप महापाप से बचजावो यह हमारा हितपूर्वक नम्रता से चेत कराना है।

पूर्वपक्ष–क्या यथातथ्य स्वप्न देखने से संसार समुद्र को तिर जाय और तिर जाय तो फिर संयम लेने का क्या प्रयोजन है.?

उत्तरपक्ष–भाई यथातथ्य स्वप्न में समुद्रादि तिरने से संसार समुद्र भगवंत तिर गए. ऐसा कथन मूल पाठ से दिखा चुके और अर्हंत गणधरजी महाराज जिस बात को कह चुके तो फिर सिद्धांत का मूल पाठ को छोड़ के विपरीत बात को बुद्धिमान् तो कभी नहीं उठावे. और संयम लेने का क्या प्रयोजन है यह भी भोले भाई का विपरीत तर्क है क्योंकि प्रथम तो हम ऊपर कथन ही कर आए हैं कि सूत्र दशाश्रुतस्कंध के पंचमे अध्ययन में वैसे गुणवंत साधु साध्वी को वैसा स्वप्न आता है और जो सामुद्रादि तिरने का यथातथ्य स्वप्न देखेगा. वह निश्चय संयम लेवेगा और संयम लेवेगा वह ही स्वप्न वैसा देखेगा दूसरा सामान्य पुरुष या स्त्री वैसा स्वप्न नहीं देखेगा सो फिर हम तुम्हारे हित के लिये सूत्र भगवती जी का शतक १६ मा उद्देश छठा में स्वप्न का माहात्म्य चला सो लिखते हैं. स्त्री वा पुरुष स्वप्न के मध्य में घोड़ों की पंक्ति हस्तियों की पंक्ति देखता हुवा उनके ऊपर चढा ऐसा अपने आत्मा को माने यानी उसके ऊपर चढगया ऐसा देख



के तत्काल जाग जावे तो वह उसी भव में मोक्ष जावे १. ऐसे ही कोई पुरुष या स्त्री स्वप्न में एक रस्सी पूर्व पश्चिम में लंबी दोनों तरफ समुद्र में फसी ऐसी देखके उसको इकट्ठी करे. इकट्ठी मैंने करली ऐसी निश्चयता देख करके उसी क्षण में जागे वह पुरुष उसी भव में मोक्ष जावे २. ऐसे ही स्वयं रस्सी को छेदता देखे. यानी रस्सी को मैंने काट डाली ऐसा स्वयं देखे वह भी उसी भव में मोक्ष जावे ३. ऐसे ही पंच वर्ण का सूत्र को उखेले सुल जाय ऐसा स्वयं देखे तो वह उसी भव में मोक्ष जावे ४. ऐसे ही लोहे तांबे तरु वा शीसा इनकी राशि को देखे उनपर चढा हुवा माने यानी उनपर मैं चढगया ऐसा स्वप्न देखे वह दो भव करके मोक्ष जावे ५ ऐसे ही सुवर्ण. रूपा. रत्न. बज्र. इनकी राशि पर स्वयं चढा हुवा स्वप्न देखे वह उसी भव में मोक्ष जावे ६. ऐसे ही घास काष्ठ. गोबर इनकी राशि को और कचेर की राशि को विखेरी हुई देखे यानी पूर्वोक्त राशि को मैंने विखेर डाली ऐसा स्वप्न देखे वह उसी भव में मोक्ष जावे ७ ऐसे ही अनेक प्रकार के स्तंभ को मैंने उखाड़ डाले ऐसा स्वप्न देखे वह उसी भव में मोक्ष जावे ८ ऐसे ही दूध. दधि. घृत. मधु. इनके घड़े को स्वयं तोका हुवा स्वप्न में देखे वह पुरुष उसी भव में मोक्ष जावे ९ ऐसे ही मदिरा का घडा चर्बी का घड़ा उनको स्वयं फोडे ऐसा स्वप्न देखे वह पुरुष दो भव से मोक्ष में जावे १० ऐसे ही पद्मसरोवर फूलों से छाया हुवा आप तिरा ऐसा स्वप्न देखे वह पुरुष उसी भव में मोक्ष जावे ११ ऐसे ही एक मोटे सरोवर में सैंकडों कल्लोलों सहित स्वप्न में देखे

कि मैं यह समुद्र तिर गया वह पुरुष उसी भव में मोक्ष जावे इत्यादि विस्तार से देखना होवे तो सूत्र भगवती जी का शतक १६ मा उद्देश छठा में मूल पाठ में देख लेना. अब विचारो कि यह ऊपर लिखे स्वप्न स्वयं अर्हंत प्रभु ने फुरमाये हैं तो फिर सिद्धांत की बात को ठेल मनमानी आकबाक तर्कना करनी कि यथातथ्य स्वप्न में समुद्र को तिरजाने से संसार समुद्र को तिर जावे तो संयम लेनेका क्या प्रयोजन है ऐसी तर्कना करनी बुद्धिमान् की नहीं है इसलिये बहुत कहने का यही प्रयोजन है कि वीतराग कथित बचन ही सार श्रद्ध लेवो कदाचित् तुम्हारे को ऐसी शंका उत्पन्न होवे कि-स्वप्न में तो स्त्री का संसर्ग भी हो जाता है, तो फिर स्वप्न देखना मोहनी कर्म में क्योंनहीं, तिस शंका का समाधान सूत्र में ऐसे हैं कि सूत्र अनुयोगद्वार में चक्षु दर्शन, अचक्षुदर्शन. अवधि दर्शन का देखना भी क्षयोपशम भाव में कहा है, तथा पांचो इन्द्रिया क्षयोपशम भाव में अनुयोगद्वार जी में कही है. सूत्र ( खउ, समिया, इदियाइं ) इति. तथा तुम्हारे तेरे पंथियों के बनाए नवरत्न के १३ द्वार तिसका नवद्वार में ५ इन्द्रिय, और ३ दर्शन, क्षयोपशम भाव में माने हैं पृष्ठ ४४ पुस्तक नं. १ पै है. वैसे ही स्वप्न दर्शनभी, नंदी जी सूत्र के मूलपाठ में नो इन्द्री मतिज्ञान का भेद कहा है सो क्षयोपशम भाव में है और जैसे नेत्र को देखना तो क्षयोपशम भाव में है और जो स्त्री आदि को देख के मन में विकार होवे वो विकार का भाव मोहकर्म का उदय भाव में है. वैसेही स्वप्नका दर्शन भी क्षयोपशम भाव में है परंतु स्त्री आदिक का संसर्गताकी विकलता मोह कर्म के



उदय में है. परन्तु स्वप्न दर्शन मोह कर्म का उदय कोई सिद्धांत में नहीं कहा है. बस इतने लेख का सारांश यह है कि स्वप्न मोह कर्म में नहीं.अपितु क्षयोपशम भाव में है. और नोइन्द्रिय मतिज्ञान का भेद में है. सो सूत्र से सिद्ध किया. और स्वप्न देखने से भगवंत को चूकना कोई प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है. और बहुत सिद्धांत पाठ से सिद्ध कियाहै सो सज्जन पुरुष समदृष्टि से समझ लेना. इति स्वप्न का यथार्थ निर्णयः ॥

पूर्वपक्ष–हमने और भी कारण चूक जाने के विषय के प्रश्नोत्तर के पृष्ठ पहिले में कहे हैं. प्रथम प्राणातिपात जीव की हिंसा करलेवे १ दूसरा मृषावाद झूंठ बोल लेवे २ तीसरा चोरी कर लेवे ३ चौथा शब्द. रूप. रसगंध. स्पर्श. में रतिभाव मान लेवे. ४ पांचवा पूजा श्लाघा में हर्ष लावे. ५ छटा सावद्य आहारादिक भोग लेवे. ६ सातवां प्ररूपणा के अनुसार नहीं चले. ७ इन सात बोलों से साधू छद्मस्थ कहा जाता है ) यह हमारा लेख है और भगवंत भी छद्मस्थ थे चूक जावे उसमें क्या आश्चर्य है.

उत्तर पक्ष–हे अल्प बुद्धिवाले मित्रों तुम्हारा प्रथम कारण स्वप्न देखने से ही चूकना किसी सिद्धांत से सिद्ध नहीं हुवा तो दूसरा तो होवे ही कहां से तथापि हम तुम्हारे हित के लिये उसका भी उत्तर लिखते हैं ध्यान लगा कर सुनिये. प्रथम तो हमारा पूछना भगवंत महावीर स्वामी का था, और तुमने छद्मस्थ का चूक जाना बतलाया और भगवंत को चूक जाना ठहराया. पर ऐसे हुवा किसी बुद्धिमान ने किसी साधू महा पुरुष भगवंत की आज्ञा में चलने वाले के गुण वर्णन किये कि यह

संत पुरुष है. झूंठ बोलना चोरी करना आदिक दोष इन में नहीं है. और इनमें चोरी झूंठ की सिद्धि भी कोई नहीं कर सक्ता है. क्योंकि संत होने से. तब कोई एक साधू का द्वेषी बोला कि झूंठ बोलने की चोरी करने की सिद्धि कैसी नहीं होती है. क्योंकि झूंठ बोलना चोरी करना छद्मस्थ मनुष्य का स्वभाव है और यह भी छद्मस्थ है. इससे झूंठा और चोर है वैसे ही तुम्हारा लेख हैं कि जो छद्मस्थों का सात कारण बतलाके परमेश्वर को चूक जाना कहना यह अत्यन्त अनुचित है. फिर इस विरुद्ध लेख से तो अनंत पुरुषों की आशातना होती है क्योंकि अनंत तीर्थङ्कर भगवान् दीक्षा ले के पश्चात् छद्मस्था में रह के पीछे केवली हुए हैं तो इस तुम्हारे गोलमाल लेख से तो क्या वे सब चूके. या. अनंतमुनि जिन आज्ञा के आराधिक छद्मस्थ हुए हैं तो क्या वह भी चूके या तुम्हारे माने हुए भीषमजीसे ले के आज तकके तुम्हारे गुरु को तुम साधू मानते हो और वह सर्व छद्मस्थ है तो उन सर्व को तुम झूंठ बोलने वाले या चोरी करने वाले श्रद्धते हो कि नहीं. अगर तुम उन अपने गुरु को झूंठ बोलना आदि पाप के करने वाले श्रद्ध लेवोगे तब तो तुम को छद्मस्थ को साधु ही मानना नहीं पड़ेगा.

क्योंकि तुम्हारा गुरु की यह श्रद्धा है कि एक दोष लगावे उसको भी साधु नहीं कहना. गृहस्थी समान कहना. और तुम ने लिखा कि हिंसा झूंठ चोरी आदिक सात बोल के सेवने वाले को ही छद्मस्थ कहना तो फिर तुम्हारे गुरु तो सर्व छद्मस्थ हैं तो इन सर्व को हिंसक झूंठा चोर आदिक



पापी ही तुमको मानने पड़ेंगे तो फिर तुम्हारे छद्मस्थ गुरु जी को साधु कैसे मानते हो. सो तुम तेरे पंथीजीजरा मध्यस्थता से विचार लीजियेगा और सर्व छद्मस्थ मुनि को तुम सात बातों के सेवने वाले या चूक जाने वाले मानोगे तब तो तुम को एक श्री महावीर प्रभु जी को छद्मस्थ अवस्था में चूके मानने से फिर तुम को ऋषभदेव जी आदिक तेईस तीर्थंकर परमेश्वर भी छद्मस्थ अवस्था में रहके पीछे केवल ज्ञान पाए हैं तो उनको भी छद्मस्थ अवस्था में तुम को चूके श्रद्धने पड़ेंगे अगर फिर मतपक्ष के लिये ऐसी विपरीत श्रद्धा करके सर्व छद्मस्थ तीर्थंकर भगवान् को चूके मान लेवोगे तब तो तुम सर्व तीर्थंकर भगवान् की आशातना करणे के भागी बनने से अनंत संसार में परिभ्रमण करने रूप और दुर्लभ बोधरूप महा मिथ्यात्व मोहनी कर्मबंध को हासिल करने वाले ठहरोगे सो जरा जन्म मरण का भय होवे तो तुम तेरेपंथी विचारना.

पूर्वपक्ष—जब सात प्रकार से छद्मस्थ जानना ऐसा सूत्र ठाणांग जी में कैसे कहा ?

उत्तरपक्ष—भाई सिद्धांत के वचन तो अनेकांत और सापेक्ष हैं सो सिद्धांत का आशय तो यह है कि यह सात कार्य छद्मस्थ को लागे परन्तु केवली को नहीं तो जो छद्मस्थ हिंसादिक करे उसको उस पाप का भागी कहना. परंतु सर्व छद्मस्थ मुनि पूर्वोक्त सात कार्य के कर्ता नहीं सो हम तो ठाणांग जी के वाक्य को ऐसे श्रद्धते हैं और तुम को भी ऐसे हीज श्रद्ध के श्री भगवान् महावीर जी की आशातना छोडनी

उचित है नहीं तो तुम्हारा श्रद्धा से छद्मस्थ पन में साधूपना ही नहीं ठहरेगा सो विचार लीजियेगा.

पूर्वपक्ष-हम ने प्रश्नोत्तर के तीसरे पृष्ट की पहली पंक्ति से ले के २५ मी तक लिखी है तिसका मतलब यह है कि श्री गौतम स्वामी जी महाराज आनंद श्रावक को अवधिज्ञान विषय का उत्तर देने में चूके हैं विचारियें जैसे केवल ज्ञान से प्रथम श्री भगवान् में ४ ज्ञान थे और गौतम स्वामी ४ ज्ञान छते चूके हैं तो वैसेही श्री भगवान् के भी छद्मस्थपने में चूक जाने का असंभव नहीं यह हमारा लेख है इसका प्रत्युत्तर क्या है.

उत्तरपक्ष-हे मित्र यह तुह्मारा लेख विभ्रम है. क्योंकि गौतम स्वामीजीका खलाने का दाखला देके श्रीभगवान् को चूके कहना अति अज्ञानता का काम है. क्योंकि गौतमस्वामीजीको और श्रीभगवानका सदृशपना नहीं है सो देखो श्री भगवान तो देवलोक से चवके गर्भमें आये तहांभी तीन ज्ञान सहित आये. और दीक्षा लेतेही चौथा ज्ञान उत्पन्न हुवा. वैसे गौतम स्वामीको दिक्षा लेने से चौथाज्ञान उत्पन्न नहींहुवा और ३ ज्ञान सहित गर्भ में भी नहीं आये और भगवान तो कल्पातीत और गौतमस्वामी स्थिवर कल्पी. तथा भगवान तो स्वयंबुद्धि और गौतमस्वामी भगवानके उपदेश से बोध पाये. इत्यादिक श्री भगवान के और गौतमस्वामीजी के बहुत विषय का फर्क है सो गौतमस्वामीजी के खलनाने से श्रीभगवान को चूके कहना. महामिथ्यात्व का प्रताप है तथा यहभी विचारो कि प्रथम तो गौतमस्वामीजी आनंद श्रावक को उत्तर



देने में खलना पाये तभी भगवंतने उनको खलना बतलाई. परन्तु गौतम स्वामीजी की खलना से श्रीभगवंत को खलना किस पाप से बताते हो. क्या यह नियम है कि एक ४ ज्ञानवाला खलना पावे तो वैसे सर्वही ४ ज्ञानवाले खलनापावे इस गोलमाल लेख से तो पूर्वोक्त छद्मस्थ का समुच्चय कथन से भगवन्त को चूक जाने कहने में जो दोष आते है. वैसे यहां भी आते हैं सो यह कहना बिलकुल अनुचित् है क्योंकि गौतमस्वामीजी को तो आनंदका सम्बध से खलनां होने से ही खलना कहा है परंतु श्री भगवान में तो कोई खलनाका कारण किसी सूत्र में नहीं है तो फिर तुम क्योंकर छातीचलाकर परमेश्वर दोष ठहराते हो और स्वप्नको कारण बतलाया वह तो विल्कुल जैनसिद्धान्त से विरुद्ध हैं सो हम ऊपर अच्छी तरह से सूत्रपाठ सहित खुलासा कर चुके हैं.

पूर्वपक्ष—स्वप्नके सिवाय औरभी तीन कारण हमने भगवंत के प्रश्नोत्तर के चोथे पृष्ट की तीसरी पंक्ति से लेकर १३ पंक्ति तक लिखे है कि

( ख ) श्री भगवान महाबीर स्वामी ने गोशाला को दीक्षादी यह वार्ता भगवती सूत्र के १५ में शतक में हैं

( ग ) और श्री भगवान महाबीरस्वामी ने गोशालाको तिलका छोड बतलाया. और उसने भगवंतके वचनको असत्य करने के लिये उखेड़ डाला. यह वार्ता सूत्र भगवतीजी का १५ शतक में है.

( घ ) श्री भगवान ने तेजु शीतल लेश्य प्रगट करके गोशाले को बचाया. और लेश्या फोरने में जघन ३ उत्कृष्टी

५ क्रिया कही है यह वार्ता सूत्र पन्नवणाजीके ३६ मा पदमें इस कारण हम भगवंत को चूके कहते हैं.

उत्तरपक्ष-भगवंतनें गोशाले को दीक्षादी इसमें क्या पाप हुवा सो भगवतको चूके कहते हो.

पूर्वपक्ष-जो गोशाले को दीक्षा नहीं देते तो २ साधु की घात नहीं होती, और भगवंतपर तेजुलेश्या भी गोशालानहीं मेलता और मिथ्यात्व भी नहीं बढता तो सर्व काम ऐसे अ-योग्य को दीक्षा देने से हुए इससे चूके हैं.

उत्तरपक्ष-तो हे भोले भाई तुम ने सूत्र भगवती जी का १५ मा शतक का मतलब अच्छी तरह से नहीं धारण किया तिसके प्रताप से शंका उत्पन्न हुई है. अब सूत्र का पाठ सुनियें. गोशाला ने भगवान् से शिष्य होने की प्रार्थना की और गोशाला कुपात्र तो पीछे हुवा है परंतु भगवंत ने दीक्षा दी उस वक्त कुपात्र नहीं था सो सूत्र पाठ से दिखाते हैं चित्त लगा के सुनिये.

सूत्र-तएणंसे, गोसाले, मंखलि, पुत्ते, हट्ठ, तुट्ठे, ममं, तिरकुत्तो, आयाहिणं, पयाहिणं, जाव, णमंसित्ताए, वंबंयासी तुब्भेणंभंते, ममं, धम्मायरिया, अंहंणं, तुब्भं, अंतेवासी, तराणं, अहं, गोयमा, गोसालस्स, मंखलि, पुत्तस्स रायमट्ठं, पडिसुणेमि, तराणं, अहं, गोयमा, गोसालेणं, मंखालि, पुत्ते, णंसाद्धिं, पणियं, भूमिए. छवासाइं, लाभं, अलाभं, सुहं, दुरकं, सक्कार, मसक्कारं, पच्चाणुब्भवमाणे, अणिच, जागरियं, विहरित्था, ॥ इति सूत्रपाठः ॥

अ.र्थार्थः-॥तएणंसे, गोसाले, मंखालि, पुत्ते, हट्ठ तुट्ठे, के०



तिवोरते गोसालो मंखलि पुत्र हर्ष संतोषपाम्यो ममं, तिर्कुत्तो, आपाहिणं, पयाहिणं, जाव, णमंसित्ता, एवं, वयासी, के० मुझे प्रते तीन बार जीमणा पासा थीप्रदक्षिणा इत्यादि यावत् नमस्कार करी इम कहे-तुब्भेणं, भंते, मम, धम्मायरिया, अहणं तुब्भं, अंतेवासीः के० -तुम्हेणं वाक्यालंकारे. माहरा धर्माचार्य हूणं वाक्यालंकारे तुम्हारो शिष्य तएणं, अहं, गोयमा, गोसालस्स, मंखालि, पुत्तस्स, एयमट्ठं, पडिसुणेमिः के० तिवारे हुं हेगोतम गोशालानो मंखली पुत्र नो एहवो वचन सांभलू तराणं, अहं, गोयमा गोसाले,णं, मंखलि पुत्तेणं, सद्धिं, पणिय भूमीए; के०'- तिवारे हूं हे गोतम गोशाला मंखलि पुत्रे करी सहित मनोहर भूमिकाने विषै छ वासाइं, लाभ, अलाभ, सुहं, दुरकं, सक्कार, मसक्कारं, पच्चणु, ब्भवमाणे, अणिच्च, जागरियं, विहरित्था, के०' छ वर्ष लगे विहार कीधो लाभप्रते अलाभ प्रते सुख प्रते दुख प्रते. सत्कार प्रते असत्कार प्रते अनुभव मानता थकां अनित्य जागीका अनित्य चिंता करतां थकां विचरता थया. ॥ इति सूत्रार्थः ॥

अब देखो सूत्र में कहा कि गोशाले ने तीन बार प्रार्थना करी तब चौथी बार की प्रार्थना से भगवंत ने गोशाला को ग्रहण किया, तो यहां तो बंदनादिक बिधि साचवन करके भगवंत अर्ज करी है तो यह विनय का कारणादिक तो योग्य-पने का कार्य है तो अयोग्य पीछे हुवा है.

पूर्वपक्ष-हमारे गुरुजी ने भ्रम विध्वंसन के पत्र ८२ पैं टीका की साक्षी दी है कि (ए अयोग्य ने भगवान् अंगीकार कीधोते अखीण रागपणा करीतेहना परचे करी स्नेह अनुकंपाना

सद्भाव थी अने छद्मस्थ छे ते माटे आगमीया कालरा दोषना अजाणवा थकी ) यह हमारा गुरु जी का कहना है तिससे हम कहते हैं कि राग से गोशाला को दीक्षा देने से चूके सिद्ध होते है.

उत्तरपक्ष–हेभाई तुमने टीका की साक्षी बताई है परंतु टीका से भी भगवान् को चूकना सिद्ध नहीं होता है तिसका हमखुलासा टीका लिखते है परंतु याद रखना कि हम फिर अगाड़ी टीका की साक्षी बतलावेंगे बदलना मत कि हम टीका को नहीं मानते हैं. सुनिये टीका का खुलासा—

टीका–एयंमट्ठं, पडिसुणेमिति, ॥

अभ्युपगच्छामि यच्चै तस्याऽयोग्य स्याप्यभ्युपगमनं भगवस्तदीक्षण राग तया परिचयेनेषत्स्नेह गर्भानुकंपा सद्भावात् छद्मस्थतया. वानागत दोषा नवगमादवश्यं भावित्वा चैतस्यार्थ स्येति भावनीयमिति पणिय भूमी एत्ति. पणित्त भूमेरारभ्य प्रणीत भूमोवा. मनोज्ञभूमौ विहृतवानिति योगः । अणिच्च जागरियंति अनित्य चिंतां कुर्वन्निति वाक्यम् ॥ इति.

टीकार्थः–यह अर्थ मैंने प्रतिसुराया अंगीकार किया जो इस अयोग्य को भगवान अंगीकार कियो. अक्षीणरागपणा करी. परिचय कछुक स्नेहगर्भ अनुकंपा सद्भाव से छद्मस्थपना करके अनागत दोष का अजानपना करके अवश्य भाविभाव से इतना अर्थ सम्बन्ध भावना करनी योग्य है मनोज्ञ भूमि के विषे विचरता हुवा अनित्य जागरणा अनित्य चिंता करता थका. ॥ इति ॥

अब बुद्धिमान विचारो कि इस सूत्र के पाठ अर्थ टीका में कहां भी भगवंत चूक गये ऐसा नहीं कहा है तो फिर तुम



लोग झूठे सूत्र का नाम लेके चूकना कहां से कहते हो.

पूर्वपक्ष– अभी आप ऊपर लिख चुके हो कि भगवंत ने अयोग्य को अक्षीण रागपणा करके ग्रहण किया तो अयोग्य को राग से ग्रहण करने में चूके यह स्पष्ट सिद्ध हुवा.

उत्तरपक्ष–हे भाई सूत्र की टीका की सापेक्षा नहीं समझने से तुमको यह तर्कना सूझती है और तुम्हारे गुरु जीतमलजी के बनाये भ्रम विध्वंसन में ऐसा लिख दिया है परंतु पूर्वापर सम्बन्ध विचारने की बहुत न्यूनता है सो जरा ध्यान देके विचारो कि इस टीका में भगवंत ने अयोग्य को कैसे ग्रहण किया यह तर्क हुवा इस पर टीकाकारजी करते हैं अब विचारो कि यह तर्क का कारण पूर्व सम्बन्ध यानी गौशाला भगवंत से बदला. और साधु की घात करी उस आशय से अयोग्य को ग्रहण करने की तर्क हुई है परंतु भगवंत को मिलता ही अयोग्य नहीं हुवा है. क्योंकि भगवंत को गौशाला ने ४ वक्त प्रार्थना करके कहा कि हे भगवंत आप मेरे धर्माचार्य हो और आप का मैं शिष्य हूं तब भगवंत ने चौथी बार की प्रार्थनासे ग्रहण किया है और जो पीछे भगवंत से गौशाला अलग नहीं निकलता और अविनीत नहीं होता तो उसको अयोग्य कोई भी नहीं कहता तो यह विचार से अच्छी तरह से सिद्ध हुवा कि अयोग्यपना पीछे की अपेक्षा से है परंतु दीक्षा दी उस वक्त की अपेक्षा से नहीं अब टीकाकार जो इसका समाधान करते हैं कि भगवंत ने दीक्षा दी सो अक्षीण रागीपणा से कछुक स्नेहयुक्त अनुकंपा करके क्योंकि गौशाला ने भगवंत से तीनवार तो प्रार्थना करी और चौथी

वार मस्तक मुंडा के भगवंत से आके प्रार्थना करी तब श्री भगवान को गौशाले पर करुणा आई कि यह जीव बिच रा वार बार प्रार्थना करता है और शिष्य होने की उत्कंठा अत्यंत करता है इससे परमेश्वर को उस पर करुणा आई जिससे ग्रहण किया तात्पर्य उनका तारण रूप करुणा का था.

पूर्वपक्ष-कछुक स्नेह युक्त अनुकंपा कही सो स्नेह कहो या मोह अनुकंपा कहो. यह तो एक ही बात है तो मोहकर्म से चूकना सिद्ध हुवा.

उत्तर पक्ष-हे भव्य हम बार २ कहते हैं कि तुम शास्त्र का अर्थ विचार करके तर्कना नहीं करते हो परन्तु तुम क्या करो तुम्हारे गुरु ने भ्रम विध्वंसन में ऐसा ही कथन रचा है परन्तु पक्षपात नहीं होवे तो बिचार करके तत्व का निर्णय करो और तुम्हारी शंका का समाधान सुनो कि प्रथम तो तुम यह बिचारो कि ४ चारित्र यानी सामायिक छेदोत्थापनिया परिहार विशुद्ध सूक्ष्म संपराय यह चारित्र और पुलाक बुकस्स पडिसेवणाकुसिल कषायकुसिल यह ४ नियंठा इनमें अवश्यमेव राग का सद्भाव भगवंत ने कहा है यानी सर्व यह सरागी है और सूत्रपाठ से दिखाते हैं ध्यान लगा कर सुनो सूत्र निम्न लिखित हैं ।

सूत्र-पुलाएणं, भंते, किं, सरागे, होज्जा, वीतरागे, होज्जा, गो, सरागे, होज्जा, सोवीपरागे, होज्जा, एव, जाव, कसाय, कुसीले, इति ॥

अस्यार्थ-पुला कहे भगवान स्यूं राग कषाय हुवे अथवा वीतरागी हुवे गौतम सरागी हुवे परंतु वीतरागी न हुवे इति॥



भगवती शतक का २५ उद्देश छठा में तथा ७ मा का पाठ:-

सूत्र-समाइय, संजएणं, भंते, किं, सरागे, होज्जा, वीतरागे, होज्जा, गोयमा, सरागे. होज्जा, णो, वीतरागे, होज्जा, एवं, जाव, सुहुम, संपराए,

अस्यार्थ-सामायिक चारित्र भगवान सरागी हुवे किंवा वीतरागी हुवे गोतम सरागी हुवे परंतु वीतरागी न हुवे ऐसे ही सूक्ष्म संपराय तक कहना ॥ इति सूत्रार्थ ॥

अब बुद्धिमान बिचारो कि सूत्र में खुलासा ४ नियंठे और ४ संजया को भी भगवान ने सरागी फुरमाए तो सरागी संयम वाला तो जिस कोई को दीक्षा देवे या जो कोई ब्रत तप तपादिक भली क्रिया यानी मात्र संयम का पालना सरागता से हैं तो फिर बिचारो कि श्रीभगवाने ने गोशाले को किंचित् सरागपने से ग्रहण किया तो उसमें भगवान का क्या दोष लगा क्योंकि श्रीभगवान भी सामायिक चारित्र के परयाय में थे इससे से सरागी थे और किंचित् सराग से ग्रहण करने में भगवंत को क्या दोष लगा अपितु कुछ भी नहीं लगा ।

पूर्व पक्ष-रागद्वेष तो कर्म बंधन में बीजभूत शास्त्र में कहे है तो फिर राग से भगवान ने गोशाले को ग्रहण किया तो चूके क्यों नहीं कहते क्योंकि वह तो १८ पाप में दश पाप है

उत्तर पक्ष-हे भोले भाई जरा बिचार करके तो तर्क करो कि जो अनंत छद्मस्थ सराग संयमी साधु साध्वी गये काले हुए हैं वह सरागपने से शिष्य को दीक्षा देते और गुर्वादिकों

की सरागता से सेवा करते गुरु सराग से शिष्य को ज्ञानादिक ग्रहण कराते हैं यह कथन सूत्रों में ठाम ठाम में हैं क्योंकि सराग संयमी जो जो धर्म विनायादिक सराग से ही करते है और भी हम तुम से पूछते हैं कि तुम्हारे माने हुए भीषमजी से लगा के आज दिन तक के सर्व तुम्हारे गुरु एक दूसरे की व्यावचादिक सराग से करते कि वीतराग से या चेला करने को यानि तुम्हारे गुरु शिष्य करने को कई कोशा बंध जाते है यह सराग से चेला करने जाते हैं कि वीतराग से और व्याख्यान सुनाना गुरु की सेवा करनी एक दूसरे की बंदना करनी यह सराग से करते कि वीतराग से करते हैं क्योंकि वीतराग का जंबूजी महाराज के मोक्ष पधारे पीछे पंचमा आरे के जन्मे को विच्छेद हैं तो तुम्हारे गुरुजी सराग से चेले करते कि वीतराग से इस पर तुम को कहना पड़ेगा कि राग से कदाचित तुम हठ करके नहीं कहोगे तो वीतराग पना से बनही नहीं सक्ता क्योंकि वीतराग पने का तो विच्छेद है ।

अब विचारो कि जो राग एकंतपाप में है तो तुम्हारे गुरुजी चेले मूंडने से श्रावक करने से राग भाव उत्पन्न हुवा तो वह राग पाप मे है कि धर्म में है वाह ! रे मित्रो ! ! सूत्र की बात का परस्पर कुछ भी संबंध नहीं विचारते हो. और भी तुम लोगों को तुम्हारे साधूजी पूज्य के दर्शन करने का उपदेश देते हैं और आखड़ी भी दिलाते हैं कि पूज्यजी का दर्शन किये विना कुशिल रात्री भोजनादि नहीं सेवना. फिर तुम पूज्यजी के दर्शन करने को गाड़ी घोड़ा रेल आदि की सवारी, से या पैरों से, जाते हो तो यह तुम्हारा पूज्यजी के



पास जाना राग से होता है. कि वीतराग से सो तुम वीतराग तो होई नहीं किंतु सरागी हो तो सराग से जाना ठहरा तो तुमको पाप हुवा कि धर्म. और आखड़ी दिवाने वाले को क्या हुवा. तब तो भाई झटपट बोल उठते हो कि हमारे गुरुजी का चेलादिक का मूंडना. या हमारे पूज्यजी का दर्शनादिक करना एकांत धर्म में है वाह रे वाह मित्रो तुम्हारी समझ का व्याख्यान कहां तक किया जावे कि आप का गुरुजी का सरागपने से चेले मूंडने में या परस्पर बंदनादिक सरागता से करने में धर्म और भगवंत श्रीमहावीर स्वामी ने थोड़ा सा राग का सद्भाव करके गोशाला को ग्रहण किया. ऐसा टीका का लेख से भगवंत को चूके कहना और पाप लगना बताना यह क्या अंधाधुंध लेख है. अफसोस है कि वर्तमान के अपने मनमाने पूज्यजी का ढंग पर भी कुछ नजर नहीं डाल के चार ज्ञानवान् भगवंत को चूके कहना और मनमाने को धर्मात्मा कहना विद्वान का काम नहीं है ।

पूर्वपक्ष—भगवान ने तो अयोग्य को ग्रहण किया इससे चूके कहते हैं और हमारे गुरुजी तो पहिचान करके चेले मूंडते हैं तिससे उनको चेला मूंडना धर्म में हैं ।

उत्तरपक्ष—हे भाई इस अयोग्य विषय का कथन तो हम पूर्व ही कथन करचुके हैं तथापि फिर सुनो कि भगवंत ने गोशाला को ग्रहण करने समय में गोशाला अयोग्य हुवा कि छै वर्ष पीछे हुवा जो कहो कि ग्रहण करने समय में था तो बताइये कि ग्रहण समय में गोशाला की क्या अयोग्यता थी क्या शरीर का हीण था क्या अविनय से भगवान् के साथ

हुवा तो यह तो कभी नहीं सिद्ध होता क्योंकि ४ वार बहुत भगवान को वंदना करके प्रार्थना करी तब भगवंत ने ग्रहण किया और श्रीमुख से फरमाया कि हे गौतम गोशाला के साथ ६ वर्ष तक प्रणीत यानी मनोहर भूमि में धर्म ध्यान ध्याते हुए हम विचरे. तो विचारो कि ६ वर्ष तक तो श्रीमुख से फरमाया कि अनित्य जागरणा धर्म ध्यान करते हुए रहे तो निश्चय हुवा कि अयोग्य तो पीछे हुवा है इसी वास्ते टीकाकारजी ने भी लिखा है कि अनागत दोष का अजाण पणा करके क्योंकि छद्मस्थ थे इससे टीका की साची तुम्हारे गुरु जीतमलजी ने भी भ्रम विध्वंसन में ८२ मां पत्र पर लिखा कि ( छद्मस्थ छे माटे आगमीया कालना दोषना अजाण वा थकी कीधो ) इति भ्रमः।

अब विचारो कि भाई जो भगवान ने आगमीया कालका अयोग्यपना को नहीं जान के ग्रहण कियातो इसमें २ वार्ता तो अच्छी तरह से सिद्ध होगई कि आगम्य काल में अयोग्य और अपगुणी हुवा तो वर्तमान काल में ग्रहण करती वक्त तो नहीं हुवा. द्वितीया वार्ता आगम्य कालका दोषका अजाण से ग्रहण किया तो इससे भगवंत में किसी प्रकार का दोष रहा ही नहीं क्योंकि भगवंत ने तो अच्छा जान के ग्रहण किया परन्तु आगम्य काल में बुरा हुवा. इसमें भगवान क्याकरे भगवंत ने तो उपकारही किया. और उपकारी उपकारकरे और उसे उपकारमें कोई कृतघ्नी होजावे तो उस कृतघ्नी को दोष है परन्तु उपकारी को दोष किसी शास्त्र से नहीं है. क्योंकि उपकारी को तो यह खबर ही नहीं कि यह आगम्य



काल में कृतघ्नी होवेगा. और यह तो तुमलोग और तुम्हारे गुरु मानते हो कि भगवंत ने गोशाला का आगम्य काल में दोष नहीं जाना. जिस से ग्रहण किया तो फिर अवगुण नहीं जाना तो अवगुण का प्रतिपक्ष तो गुण हुवा. और गुण जान के ग्रहण किया तो दीक्षा देने में चूके यहभी कहना मिथ्या ठहरा

पूर्वपक्ष—भगवान ने गौशालापर उपकार किया तो ऐसा कथन किस सूत्र में है.

उत्तरपक्ष–इसी भगवतीजीका शतक १५ वां में जिसवक्त गौशाला समव सरण आके भगवंत को अवर्णवाद बोलनेलगा तिसवक्त सर्वानुभूतिजी और सुनक्षत्रजी ने कहा. तथा भगवंत ने श्रीमुख से कहा कि हे गौशाला जो तथा रूप श्रमण महाण के समीपे एक भी आर्य धर्म सम्बन्धी सुवचनको श्रवणकरे वहभी सुनने वाला अपने धर्माचार्य को वांदे यावत् सेवाभक्ति करे तो. हे गौशाला तुमने तो मेरे से ही दीक्षा पाई यावत् मेरे सेही बहु श्रुति हुवा. और मेरे से ही मिथ्यात्व पना अंगीकार करता है- तिस वास्ते तू इस तरह मत होवे इति सूत्र भगवतीजी का मूल सूत्र शतक १५ वां से भावार्थ' अब बुद्धिमानों विचारो कि छद्मस्थपन में भगवंत ने गौशालापर उपकार किया. और केवल पनमें कहा कि मैने तेरे उपकार किया है और मेरे सेही मिथ्यात्व धारन करना नहीं चाहिये तो विचारो कि भगवंत ने तो उपकार किया है सो श्रीमुख से बतलाया परंतु भगवंत ने ऐसा तो नहीं कहा कि तेरे ऊपर उपकार किया सो बुरा काम किया या. तेरे वास्ते मैने दोष

लगाया तो अनंत ज्ञानी उपकार करा कह तो तुम उस काम को बुरा कहके भगवान की आशातना मतकरो. तथा तुह्मारे भ्रमविध्वंसन में भी पत्र ८४ मांपर लिखते हैं कि (पहिली पूतजनम्या विना कुपूत किम हुवे पूत थया कुपूत हुवे. तिम शिष्य कीधा सूं शिष्य कुशिष्य हुवे इणन्याय गोशालो पैला शिष्य थयो छे तिवारे कुशिष्य कह्यो यो वली भगवती शतक नवमा उ. ३३ मां में कह्या (एवं, खलु गोयमा, ममं, अंते-वासी. कुसिस्से, जमाली, णामं, अणगारे) इहां जमाली ने कुशिष्य कह्यो. ते पहिली शिष्य थयोहुतो ते माटे कुशिष्य कह्यो तिम गोशाला पिण पहिला शिष्य थयो ते माटे गोशाला ने कुशिष्य कह्यो) इति भ्रमविध्वंसनका लेख ॥

अब बुद्धिमानों विचारो कि तुम्हारा गुरु जी ने गौशाला जमाली को पहले शिष्य लिखे तत्पश्चात् मोह कर्म के उदय से दोनों कुशिष्य हुये हैं और दोनों को दीक्षा देने वाले भगवान हैं तो तुम या तुम्हारे गुरु जी मानते हो कि जमाली को दीक्षा देने में धर्म भगवान को हुवा तो गौशाला को दीक्षा देने में तुम ने पाप कहां से निकाला क्योंकि दोनों ही तो पहिले शिष्य हुये. और वह दोनों पीछे कुशिष्य हुए तो एक में तो धर्म और एक में पाप यह कल्पना कौन बुद्धिमान करे अपितु सत्यवादी तो कभी नहीं करे दोनों ही काम भवितव्यता से हुए हैं और दोनों ही काम में धर्म है.

पूर्वपक्ष-गौशालाको शिष्य करा यह भवितव्यता में कहां है.

उत्तरपक्ष-हे भव्य यह तो भगवती जी की टीका में खुलासा लिखा है और तुम्हारे भ्रम विध्वंसन में ८२ मा पत्र



पर टीका तो लिख दी है अर्थ का खुलासा सम्पूर्ण नहीं किया किन्तु मनमाना अर्थ कर लिया और बाकी टीका लिखी भी है तो भी अर्थ छोड़ दिया तो कहो भाई यह कितनी आश्चर्य की बात है कि टीका को लिख के भी अर्थ छोड़ देना कहो यह भगवती जी की टीका का प्रमाण विद्वानों के वास्ते दिया कि मूर्खों के भ्रमाणे के लिये अगर मूर्खों के भ्रमाणे के वास्ते लिखा है तो टीका का लिखना ही व्यर्थ है क्योंकि मूर्ख तो अपने मनमानी कल्पना को ही भगवान के कथन समान समझते हैं तो टीका वगैरह लिखने की ही क्या आवश्यकता थी और कहा कि विद्वानों के लिये हैं तो विचारो कि टीका लिख के अर्थ पूर्ण क्यों नहीं लिखा परंतु विद्वान तो समझ ही लेते हैं कि क्या भ्रम रूप वार्ता है टीका लिख के भी अर्थ को कुछ लिखना कुछ नहीं लिखना अब सुनिये कि भ्रमविध्वंसन में टीका का अर्थ छोड़ दिया सो लिखते हैं.

टीका--(अवश्यं भावित्वाच्चैतस्यार्थस्येति भावनीय मिति)

अर्थ-अवश्य भावी भाव से इतना अर्थ संबंधी भावना करने योग्य है इति टीकार्थः

अब यह भी सुनिये कि कितना तो लिखा और कितना छोडा भ्रम विध्वंसनपत्र ८२ मा पै निम्न लिखित लेख है (ए अयोग्य ने भगवान् अंगीकार कीधो ते अखीण रागपणा करके तेहना परिचे करी स्नेह अनुकंपाना सद्भाव थी अने छद्मस्थ छेते माटे आगमीया कालना दोषना अजाणवा थकी कीधो) ॥ इति ॥

अब विचारो कि ऊपर लिखा इतना अर्थ तो लिखादिया

और अवश्य भाविभाव सो ग्रहण किया इतना टीका में खुलासा है तो भी अर्थ नहीं किया खैर मतपक्ष को छोड़ना मुश्किल है. परन्तु इस ग्रंथ का नाम भ्रम विध्वंसन रक्खा, जो मध्यस्थपन से कोई विद्वान् इस ग्रंथ को देखे तो जरूर मालुम पड़े कि यह ग्रंथ भ्रम को दूर नहीं करता है किंतु भ्रम को उत्पन्न करता है. अगर हम इस ग्रंथ की भ्रांति का हाल लिखें तो एक बड़ाभारी ग्रंथ बनजावे. तिससे यहां इस विषय का ज्यादा तर्क नहीं करते हैं यहां तो हमने गोशाले को ग्रहण भगवंत ने भाविभाव यानि होनहार से करा ऐसा टीका से और भ्रम विध्वंसन में लिखी हुई टीका से ही यहां हमने सिद्ध किया है और जैसे जमाली को भगवान जानते थे कि यह कुशिष्य होवेगा तो भी भवितव्यता यानी होनहार से परमेश्वर ने दीक्षा दी तैसेही गोशाले को भी होनहार से दीक्षा दी यह टीका से ही खुलासा हमने लिखा है तो भाई दीक्षा देने से भगवान चूके यह किसी तरह सिद्ध नहीं होता है।

पूर्वपक्ष–जमालीजी को भगवंत ने केवलपने में दीक्षा दी परन्तु गोशाले को तो छद्मस्थपने में किंचित् राग से दी इस से रागपना से चूके कहते हैं।

उत्तरपक्ष–हम अभी ऊपर अच्छी तरह से सिद्धांत का पाठ सहित खुलासा कर आए हैं कि छद्मस्थ का तो गुरु का चेले पर और चेले का गुरु पर और भी धर्म विषय में राग रहता ही है क्योंकि सराग संयम के सद्भाव से तो छद्मस्थ सराग संयमी अनंत मुनियों ने छद्मस्थ तीर्थंकरों ने शिष्य किये हैं वह क्या चूकने में है तो तुम्हारे गुरुजी का भी चेला



करने में चूकना होवेगा क्योंकि शिष्य करते हैं वह सरागी है इससे और अगर नहीं चूके और शिष्य का करना धर्म में है तो भाई महावीर प्रभुजी से तुम्हारे क्या द्वेष है जिससे उनको गोशाले को दीक्षा देने से चूके कहते हो तथा श्रीऋषभदेवजी ने ४ सहस्र शिष्यों को दीक्षा धारन कराई पीछे भूख को परिसह सहन नहीं करने से अर्थात् निर्दोष आहार नहीं मिलने से भूख के मारे संयम से कई भ्रष्ट हो के पाखंड मत चलाया. यह कथन जैनमार्ग में प्रसिद्ध है तो विचारिये कि आदिनाथजी परमेश्वरने ४ सहस्र शिष्य किये तो उसमें पाप हुवा कि धर्म और जो धर्म हुवा तो महावीरजी ने एक गोशाला को शिष्य किया तो उसमें पाप कहां से लाए हो।

पूर्वपक्ष–क्या राग भी दो तरह के हैं सो सराग से मुनि को शिष्यादि करने में या शिष्य को गुरु पर राग भाव से वंदना नमनादि करने में धर्म और विषय विकारादि पै राग करने से पाप.

उत्तर पक्ष–हां भाई जरूर सिद्धान्तों में प्रशस्त अप्रशस्त दो तरह का राग कथन है प्रथम तो आवश्यक निरुक्ति में लिखा है सो देख लेना तथा मूल अंगादि सिद्धान्तों में भी दो तरह का राग कहा है सो अप्रशस्त राग तो कामराग स्नेहराग, दृष्टिराग इस भेद से अनेक जगह सूत्रों में कथन किया है सो वह अप्रशस्त राग तो पाप में है और जो प्रशस्त राग धर्म रूप देव गुरु धर्म पर करने योग्य है ऐसा सिद्धान्तों में कहा है सो मूलपाठ से दिखाते हैं सूत्र भगवतीजी का शतक १५ मा में जिस वक्त गोशाला भगवंत के समीपे आ के

भगवान को अवर्णवाद बोलने लगा तिसवक्त सर्वानुभूतिजी भगवान् का अनुराग करके गोशाले से बोले तिसका गुण सूत्र में है सो पाठ लिखते हैं. चित्त लगा के सुनिये।

सूत्र-तेणं, कालेणं, तेणं, समएणं, समणस्स, भगवउ, महावीरस्स, अंतेवासी, पाईण, जाणवए सव्वाणु, भूईणामं, अणयारे, पगइ,भद्दए, जाव, विणीए, धम्माणु, रियाणु, रागेणं एयमट्ठं, असद्दहमणो, उट्ठाए, उट्ठेइ, उट्ठइत्ता, ।

अस्यार्थः-तेणं, कालेणं, तेणं, समएणं, के० ते काल ने विषै ते समय ने विषै समणस्स, भगवओ, महावीरस्स, अंते वासी, के० श्रमण भगवंत श्रीमहावीर स्वामी नो शिष्य पाईणा, जाणवए, सव्वाणु, भूई, णामं, अणगारे, पगइ भद्दए, जाव, विणीए के०, पूर्व देश नो अपनो सर्वानुभूतिनामै साधु स्वभावे भोलो यावत्-विनीत धम्माणु, रियाणु, रागेणं, एयमट्ठं, अस द्दहमाणे, उट्ठाए, उट्ठेइ, उट्ठेइत्ता, के० धर्माचार्य ने अनुरागे करी एह अर्थ अणसद्दहतो थको उठै उठीनै। इति सूत्रार्थ।

अब विचारो कि यहां सूत्रपाठ में सर्वानुभूतीजी अपने धर्माचार्य श्रीमहाबीर स्वामी के ऊपर अनुराग करके गोशाले के वचन भगवंत के अवगुण अविनय, रूप, कहता हुवा देखके उसे बोले कि हे गोशाला भगवान तेरे उपकारी हैं इनकी आशातना मतकर तब गोशाले ने तेजु लेश्या क्रोध करके मुनि परडाली तिसे एक बार से ही भस्म कर दिया यह लेख सविस्तार से भगवतीजी के शतक १५ वां में हैं संशय होवे तो देख लेना सर्वानुभूतिजी भगवान् के रागी थे और भगवान् ने मने कराये थे तो भी बोले और उनको भगवान पर



राग करने को या मनादि किए उपरांत बोलने का कुछ दोष या चूकने का कथन भी नहीं किया है बल्कि श्रीमुख से प्रशंसा की है और विनीत कहा है और तुम्हारे भ्रमविध्वंसन के ९३ मा पत्र में भी सर्वानुभूतिजी को आज्ञा के आराधिक और सुविनीत की बहुत कथन किया है तो भाई अब तो अच्छी तरह से बिचारो कि धर्म राग करने में पाप होता तो सर्वानुभूतीजी जिन आज्ञा के आराधिक कैसे होते तिस्से धर्म राग में कोई दोष नहीं है या दोष लगता तो आलवणा निंदना करते परंतु वह गोशाले की अग्नि से तत्काल काल कर गए तो दोष थाहीं नहीं होता तो रागभाव की आलवणा बिना आराधिक कैसे होते तथा सूयगडांग दूसरा श्रुतस्कंध अध्याय दूसरा में श्रावक का वर्णन है वहां भी ऐसा पाठ है।

सूत्र-अट्ठिमिजा, पेम्माणु, रागरत्ता,-

अस्यार्थः-आस्थिअने हाड माहेली मिजा जे धातु विशेष ते भगवंत ना सिद्धांत रूप कुसंबादिक ने विषै प्रेमरूप रोग करी रंगाणा छै ॥ एटले रागरक्त छै ॥ इति सूत्रार्थ।

इस पाठ में भी धर्मराग में रक्त साधु श्रावक का गुण कहा परंतु पाप तो नहीं लिखा।

पूर्वपक्ष-भगवान ने गोशाले का ग्रहण किया वह धर्म राग में नहीं किंतु अशुद्ध मोह राग में है।

उत्तरपक्ष-अरे भाई जरा तो कुछ विचार के बोलो कि मोह किस को कहते हैं क्या भगवान के गोशालाजी से स्वार्थ था क्या सगपन नाता करना था नहीं २ भगवान् ने तो किसी प्रकार के स्वार्थ वास्ते नहीं ग्रहण किया था परंतु परोपकार

के वास्ते ॥ इति दीक्षा देने से नहीं चूके इसका सत्य निर्णयः॥

और जो तुम्हारी शंका है कि भगवान गोशाले को दीक्षा नहीं देते तो साधु की घात या मिथ्यात्व नहीं बढ़ता तो यह भी हमने टीका से ही खुलासा ऊपर कर दिया कि अवश्य भाविभाव से भगवंत ने ग्रहण किया है जैसे जमाली को दीक्षा दी उस समय भगवान केवली थे और जानते भी थे कि मिथ्यात्व का उदय इस को आवेगा और खोटा पंथ निकालेगा तो फिर उसको दीक्षा क्यों दी तब तुम क्या उत्तर देवोगे. सिवाय भवितव्यता के दूसरा उत्तर नहीं होवेगा. ऐसे ही गोशाले कुं भवितव्यता से ग्रहण किया यह टीकाकारजी अच्छी तरह से खुलासा लिखते हैं संशय होवे तो टीका देख के श्रद्धा शुद्ध करलेना केवल गुरुजी की लिखी कल्पना परही भरोसा नहीं करना चाहिए. निर्पक्ष होके जिनागम की प्रतीत करोगे तो तिरोगे ॥ इति ॥

और भी तुम्हारा लेख है कि भगवान् ने गोशाले को तिलका छोड़ ( पोधा ) बतलाया और उसने भगवान् के बचन को असत्य करने के लिये उखेड़ डाला इससे तुम लोग चूकने की शंका करते हो सो भी भ्रम का ही प्रताप है परंतु भ्रम दूर करना होवे तो इसका प्रत्युत्यर ध्यान लगा कर सुनो. प्रथम तो यह विचारो कि तिलका छोड़ भगवंत ने तो गोशाले को नहीं बताया. परंतु गोशाला भगवंत के संघाते सिद्धार्थ ग्राम नगर से कूर्म नगर को जाता हुवा विचाले एक तिलका छोड़ स्वयं देखके पूछने लगा कि हे भगवन् यह तिलका छोड़ निपजेगा कि नहीं निपजेगा और इस तिलके



यह ७ फूल के जीव मरके कहां उपजेंगे. यह प्रश्न किया तब भगवंत ने उत्तर दिया कि हे गोशाला यह तिलका छोड़ निपजेगा और इसके सात फूल के जीव मरके इसी तिलकी एक सांगरी यानि फली में ७ तिल होवेंगे यह सुनके गोशाला भगवान् के वचन को नहीं श्रद्ध के और भगवान के वचन को झूठा करने के वास्ते उसने चुपके से जाके तिलका छोड़ को उखेड़ डाला ॥ इति ॥

यह कथन सूत्र भगवतीजी का शतक १५ वां में है अब जरा विचारना चाहिए कि सिद्धांत में तो तिलका छोड़ गोशाला को भगवान ने नहीं बतलाया किंतु उसने स्वयं तिलका छोड़ देखके तिल निपजने का प्रश्न किया. उसका उत्तर भगवान ने दिया और तुमने लिख दिया कि श्रीभगवान् महावीर स्वामीजी ने गोशाला को तिलका छोड़ बतलाया. यह लिखना सूत्र से विरुद्ध है अफसोस इस बात का आता है कि सूत्र से विपरीत कथन को भी सूत्र का नाम लेके लिखने में क्या मनोरथ सिद्ध होता है. कुछ भी नहीं तथा भूल के या भ्रम से लिखा तो अब भी सूत्र देख के ठीक श्रद्धा कर लेवो खैर हमारा तो इतनी ही बात का बतलाना तुम्हारे ऊपर हितबुद्धि से है कि तुम भूल खाके जैन सिद्धांत का लेख आक बाक मत लिखो यह हित से कहना है. अब तुम्हारी शंका का समाधान सुनिये कि श्री भगवान ने तो प्रश्न पूछा जिसका यथावस्थित उत्तर दिया. और गोशाले ने मोहकर्म के उदय से नहीं श्रद्धा तो परमेश्वर को दोष किस बात का लगा ।

पूर्व पक्ष-भगवंत गोशालाजी को कोई उत्तर नहीं देते तो तिलका छोड़ गोशालाजी नहीं उखाड़ते. यह तो उत्तर दिया तब इतनी हिंसा गोशालेजी ने करी तो इससे हम भगवान को चूके कहते हैं ।

उत्तरपक्ष-हे अल्पज्ञों कुछ भी तुमको सिद्धांत का ज्ञान है कि नहीं. सुनिये. भगवतीजी का १५ वां शतक में क्या अधिकार है कि. भगवंत सावंथी नाम नगरी के कोष्ठक नामा बाग में पधारे और उसी नगरी में हलाहलो कुंभ कारिणी की शाला में गोशाला भी था. वह निमित्त बल से केवली नाम धराता था. तब गौतम स्वामीजी गौचरी में फिरते थे. सो गोशाला का हाल सुन के भगवंत से भरी सभा में प्रश्न किया कि हे प्रभु गोशाला केवली नाम धराता है. सो कैसे है और गोशाले का चरित्र कैसे हुवा सो फरमावो तब भगवंत ने गोशाले के जन्म से ले के संपूर्ण सावंथी में रहा तहां तक का चरित्र कहा और फरमाया कि यह गोशाला मंखली का पुत्र है और जिन नहीं है केवली नहीं है यह श्री गौतम स्वामीजी के प्रश्न का उत्तर श्रीभगवान ने भरी सभा में फरमाया कि तिसको सुन के बहुत से लोग गोशाला का हिलना उपहास करते भए तिससे गोशाले को श्रीभगवान के ऊपर अति क्रोध आया, और समव सरण में आके भगवान के पास अनेक प्रकार के जालवचन यानी ७ वार शरीर में अंतर प्रवेश रूप को लुए पड़िहार मेरे हुए, इससे गोशाला मैं नहीं हूं किंतु राजपुत्र हूं ऐसा वचन फैला के सच्चा बना तब श्री मुख से श्रीभगवान ने एक चोर का दृष्टांत फरमाया कि चोर



चोरी करके भगा तिसके पीछे ग्राम के लोग लगे. तब वह चोर कोई गहन छिपने का ठिकाना नहीं पाने से वस्त्रादिक ओढ़ के मनमें माने कि मैं छिप गया. तो वह ग्राम के लोगों से छिप नहीं सक्ता. तैसे तुम्हारे से छिप नहीं सक्ता. तूं वही गोशाला मंखली का पुत्र है यह वचन गोशाला सुन के श्री भगवान पर अत्यन्त क्रोधायमान हो के कटुवचन कहने लगा तब सर्वानुभूतिजी और सुनक्षत्रजी इन दोनों साधुओं ने पृथक २ वर्जा कि भगवंत का तेरे ऊपर उपकार है. और तूं भगवंत का अवर्णवाद मत बोल तिसपर गोशाला ने दो वक्त तेजुलेश्या की अग्नि करके दोनों साधुवों को दग्ध कर दिये फिर तीसरी वक्त खुद श्री भगवान ने गोशाले को वर्जा तब गोशाला ने श्री भगवान पैं तेजस समद घात फोड़ के अग्नि भगवंत पर मेल दी. तब भगवंत को वह अग्नि पराभव नहीं करसकी और पीछी गोशाला परही पड़ी ॥

अब विचारो कि श्री भगवान ने गौतम स्वामीजी को गोशाला का चारित्र रूप प्रश्न का उत्तर दिया और उस को क्रोध आया और दो साधुवों को दग्ध किये. श्रीभगवान ज्ञान में जानते ही थे कि मेरे उत्तर देने से गोशाला को क्रोध आवेहीगा तो फिर उत्तर भगवंत ने क्यों दिया. नहीं देते तो यह गोशाले का क्रोधरूप अकार्य तुम्हारी श्रद्धा प्रमाणे नहीं होता जो तुम्हारे मत से भगवंत ने गोशाले को तिल छोड़ का प्रश्न का उत्तर देने से पाप हुवा तो श्री गौतम स्वामीजी को गोशाले का चारित्ररूप प्रश्न का उत्तर देने में धर्म कैसे हुवा क्योंकि गौतम स्वामीजी को प्रश्न का उत्तर देने में तो

तुमने धर्म माना ही है सो जरा सोच के बात चलावो।

पूर्वपक्ष-गौतम स्वामीजी को गोशाले का चरित्र विषय का उत्तर दिया उस वक्त तो भगवान् वीतराग केवली थे. इस से धर्म हुवा और गोशाले को तिल छोड़ का उत्तर दिया उस वक्त छद्मस्थ सरागी थे इससे पाप कहते हैं।

उत्तर पक्ष-अरे भाई केवली उत्तर देवे वह तो धर्म में हैं. और छद्मस्थ उत्तर देवे वह पाप में है यह बात तुम्हारे गुरुजी ने किस शास्त्र से सिखलाई है जैन सिद्धांत में यथातथ्य यानी सत्य उत्तर केवली देवे तो या छद्मस्थ साधू देवे तो दोनों को ही सत्य होने से धर्म कहा है किंतु पाप नहीं क्यों कि भगवंत के छद्मस्थ अवस्था में भी ४ ज्ञान थे सो ज्ञान में उपयोग लगा के तिल निपजना फरमाया और गोशाला के उखेड़ने से भी तिलका छोड़ मूल सहित उखेड़ा और दिव्य पानी की वृष्टि के कारण से वाहीं चिप गया और भगवंत ने फरमाया उसी तरह से तिल निपजे और गोशाले ने पीछे तपास करी तो ७ ही तिल निकले परंतु मिथ्यात्व के उदय से उलटी श्रद्धा धार के भगवंत से बाहिर निकला वैसाही गौतम स्वामीजी को यथातथ्य स्वरूप भगवान् ने गोशाले का फरमाया परंतु मिथ्यात्व के उदय से गोशाला क्रोध प्रकट कर के साधवों को जलाये. प्रश्न का उत्तर तो जैसा छद्मस्थपने में गोशाला को बतलाया वैसाही केवलपने में गौतम स्वामीजी को गोशाला का हाल बतलाया परंतु गोशाले ने प्रबल मोह कर्म के उदय से तिलका छोड़ उखेड़ डाला और साधु जलाये तो उसके कर्म की गति परंतु परमेश्वर का ज्ञान बतलाना



तो यथार्थ ही है परंतु चूकना किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है ॥ इति ॥

तथा और भी सुनो कि जो छद्मस्थ उत्तर किसी प्रश्न को यथातथ्य देवे और सुनने वाला मिथ्यात्व के उदय से द्वेष करे या विपरीत पने से कोई नहीं माने व आसवर करें तो छद्मस्थ साधु में किसी प्रकार का दोष नहीं और तुम लोग हठवाद से दोष कहोगे तो हम अगाड़ी प्रश्न करते हैं वह सुनिये किसी गृहस्थ ने साधु से प्रश्न किया कि तुम्हारे सिद्धांत में कही हुई गंगा और सिंधु नदी कहां हैं तब साधु जी ने उत्तर दिया कि दक्षिणार्द्ध भरतक्षेत्र के मध्यभाग में आके पूर्व पश्चिम समुद्र में मिली हैं यह सुनके वह गृहस्थ संशय के कारण से बिचारै कि यह बात सत्य है कि मिथ्या है ऐसा निर्णय करने के लिये गंगा और सिंध को देखने के वास्ते विद्यादि बल से जीव और नदी में जाके जल हिंसादि आश्वर करे तो बतलाने वाले साधु को पाप लगे कि जिस गृहस्थ ने किया उसको लगे कदाचित् तुम लोग हठ करके साधूजी को पाप कहोगे तो फिर साधूजी जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति व्याख्यान में वांचते हैं और उसमें गंगादिक नदियों का और पर्वतादिकों का कथन विस्तार से करते हैं उसवक्त कोई पुरुष सुन के नदी आदि की हेर करने को जावे तो साधू को भी पाप लगना ठहरेगा. या तुम्हारे गुरुजी के रचे हुए नव पदार्थ के तेरा द्वार में संवर को तालाव का दृष्टांत दिया सो यह है. ( तलाव नो नालो रुंधे ज्यूं जीवरे आश्वर रुंधे ते संबर ) तब कोई भोला जीवने यह

दृष्टांत सुना कि तालाव के नाला रूंधने से पानी नहीं आता है यह बात सच्ची है कि झूठी इसलिये तलाव का नाला रूंध के देख लेवे फिर उसने रोक के देख लिया तो तुम्हारे गुरु को पाप लगना तुमको मानना पड़ेगा क्योंकि नाला रूंधने में तो तिलका छोड़ उखेड़ने से भी ज्यादा आश्रव का संभव है तथा तुम्हारे गुरुजी ने करुणा का खंडन करने के लिये ढालां जोड़ी हैं सो सुनिये-ढाल ( पेटदूखे तलफल करे जीव दोरा हो करे हाय विलाय सातावपराई सो जणा मरता राख्या होत्याने हो को पाय भ० ७ ) ॥

अब विचारो कि उक्त गाथा में ऐसा कहा कि सो जणा को हुक्को पाय के उनके पेट दूखते या, मरते राखैं, ऐसे दृष्टांत की उक्ती की व्याख्या या गाथा सुन के किसी भोले ने विचारा कि हुक्का पीने या पिलाने से पेट दूखता रहै कि नहीं. मैं परीक्षा करूं तब उसने हुका पेट दुखते वक्त पिया, या पिलाया. तो उसका पाप करने वाले को लगा कि तुम्हारे गुरुजी को लगा. अगर कहोगे कि हमारे गुरुजी को लगा, तो यह ढाल सावद्य ठहरेगी. और सावद्य के उपदेश देने से तो तुम्हारे गुरुजी में तुमको साधूपना ही नहीं मानना पड़ेगा. अगर कहोगे कि हमारे गुरुजी तो ज्ञान बतलाते हैं और कोई दुर्बद्धि करेगा तो करने वाले को लगेगा. परन्तु हमारे गुरुजी को नहीं तो हे मित्रों श्री भगवान् के वास्ते यह विचार क्यों नहीं करते कि भगवान ने तो ज्ञान बतलाया. और गौशालाजी ने विपरीत बुद्धि से पाप करा तो. गोशाला को पाप कहो. परंतु पक्षपात खींचे हुए भगवंत पर क्यों पाप कहते हो । इति.



पूर्व पक्ष-हमने आजतक नहीं सुना कि फलाना मनुष्य किसी साधू से गंगादिक नदी का कथन सुन के गंगादिकों को हेरने गया. या तलाव का नाला रूंधा. या हुका पिया. यह तो कल्पना मात्र है और गोशाले ने तो तिलका छोड़ प्रत्यक्ष उखेड़ा है ।

उत्तरपक्ष-अगर हमारे कहे हुए दृष्टांत कल्पना मात्र है तो तुम्हारे गुरुजी का दृष्टांत है कि हुका पा के पेट दुखते और मरते हुए को राखे. यह किस नगर की बात है, या किसने कान से सुना है. कि सोजने को हुका पा के पेट दूखते और मरते हुए को राखे अगर कहो कि यह तो दृष्टांत है तो हमारा भी दृष्टांत है. तिलका छोड़ उखेड़ने का लेख है वैसे गौतम स्वामीजी को गोशाले का उत्तर देने से गोशाले ने साधों को जलाने का भी लेख है. तो दृष्टांत से दृष्टांत और लेख से लेख समझ के पक्ष छोड़ना अच्छा है ।

पूर्वपक्ष-हमारे गुरुजी को तो ऐसा मालूम हो जावे कि यह हमारे गंगा नदियों का उत्तर देने से आश्रव करेगा तो उत्तर ही नहीं देवे. परंतु वह तो आगम्य काल का अनर्थ को नहीं जाने जिससे ज्ञानरूप भाव से उत्तर देवे तो उनका कुछ भी दोष नहीं ।

उत्तरपक्ष-अगर तुम्हारे साधू आगम्य काल का दोष को नहीं जानते इससे उत्तर देवें उसमें दोष नहीं तो गोशालाजी नहीं जानते इससे उत्तर देवें उसमें दोष नहीं तो गोशालाजी

भ्रमविध्वंसन का ८२ मा पत्र में ( ज्यो उपयोग देवे अने जाणे तिल उखेलणा कसी इम जाणे तो तिल बतावेज क्याने पिण उपयोग दिया विनाए कार्य किया छै ) यह तुम्हारे गुरुजी का कहना है और हम तो कहते हैं कि भगवान् आगम व्यवहारी अतिशय ज्ञानी है यह अपने ज्ञान में जैसा देखे वैसा करै अल्पज्ञ पुरुषों की समझ का दोष है. जिससे आगम व्यवहारी महाज्ञानी में दोष निकाले क्योंकि गोशाला का चरित्र फुरमाया. उस वक्त तो परमेश्वर सर्वज्ञ केवली ज्ञानी थे और जानते भी थे कि यह चरित्र सुन के गोशाले का महा क्रोध उपजेगा. तो फिर भगवंत ने गोशाले का चरित्र क्यों फरमाया तब तुमको भी कहना पड़ेगा कि भवितव्यता टाली ना टले. परमेश्वर तो उपकारी उपकार करते हैं तो वैसे ही समझ लेना कि छद्मस्थपने में भी भगवान् के ४ ज्ञान अति निर्मल और केवली नहीं परन्तु केवली समान सिद्धांत में कहे हैं और उपकार दृष्टि से उपकार किया. परन्तु भवितव्यता टाली नहीं टली. इति. " तजोकुवादं भजो अप्रमादं " ॥ इति तिल छोड़ उखेड़ने का यथार्थ निर्णयः ।

तथा तुम्हारी कल्पना है कि श्रीभगवान ने तेजु शीतल लेश्या प्रकट करके गोशाले को बचाया. और लेश्या फोड़ने में जघन्य तीन क्रिया और उत्कृष्ट पंच क्रिया कही है परंतु शीतल लेश्या का तो वहां पर नाम मात्र भी नहीं है. तेजु लेश्या और शीतल लेश्या दोनों लब्धि अलग २ है और सूत्र पन्नवणाजी में तो तेजस् समद् घात फोड़ती समय में जघन्य तीन क्रिया और उत्कृष्ट पंच क्रिया का पाठ है. परंतु



शीतल लेश्या का वहां पाठ ही नहीं. और दूसरा यह भी कम समझ और जिनागम को यथावत् नहीं जानने का दोष है जो क्रिया लगने से चूके समझना. क्योंकि सूत्र में दशवां गुण ठाणे तक संपराय क्रिया लगे ऐसा लेख है तो कहो सर्व संपराय क्रिया लगने वाले चूकने में हो सकते हैं कभी नहीं अगर चूकने में समझते होवो तो तुम्हारे गुरुजी से पूछना कि छठा गुणस्थान का स्वामी छद्मस्थ साधू नदी उतरते हैं. या आहार विहारादिक हलन चलन रूप व्यापार में कितनी क्रिया लगती है और वह क्रिया लगने से चूकते हैं कि नहीं सो विचारनाजी तथा इसके आगे जो तुम्हारे प्रश्नोत्तर के पृष्ठ चौथे की पंक्ति चौदमी से लेके पंक्ति २५ मी तक का लेख में मतलब यह है कि छद्मस्थपने में भगवान ने गोशाले को दीक्षा देना तिलका छोड़ बताना तेजु लेश्या से गोशाले को बचाना यह तीनों कार्य किये और केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर इनहीं कार्य का अपने मुख से निषेध किया. इति इसका प्रत्युत्तर यह तुम्हारा लिखना झूंठा है क्योंकि सूत्र में भगवान ने ऐसा कदापि नहीं कहा है कि यह तीन कार्य मैंने अच्छे नहीं किये. वल्कि उल्टा श्रीभगवान ने श्रीमुख से भगवतीजी के पन्द्रहवें शतक में फरमाया कि हे गोशाला मैंने तेरे ऊपर उपकार किया. सो हमने ऊपर मूलसूत्र के पाठ से दिखाया है।

पूर्वपक्ष–लब्धि फोड़ना तो भगवान ने आज्ञा बाहिर कहा है. तो फिर खुद लब्धि फोड़ के गोशाले को बचाया तो यह निषेध हुवा ही है।

उत्तरपक्ष–हे भाई तुमने ऐसा गोलमाल कथन करना ही

सीखा है क्योंकि तुम्हारे गुरुजी ने भ्रम विध्वंसन में ऐसाही भ्रम रचा है. परंतु हम तुमको पूछते हैं कि लब्धिमात्र फोड़ना आज्ञा वाहिर कहा कि कोई लब्धि फोड़ना कहा है अगर कहोगे कि लब्धिमात्र फोड़ना आज्ञा बाहिर कहा है तब तो केवल ज्ञानी की भी लब्धि कही है. मनः पर्यय ज्ञान की भी लब्धि कही है अवधिज्ञान की भी लब्धि कही है. तो इन लब्धियों को भी आज्ञा बाहिर माननी पड़ेगी. तो यह कभी होता ही नहीं कि अवध्यादि ज्ञान की लब्धि का भी फोड़ना आज्ञा बाहिर है. और अगर कहा कि कोई लब्धि को फोड़ने का प्रायश्चित्त है तब तो सूत्र में शीतल लेश्या की लब्धि का प्रायश्चित्त है ही नहीं. आज्ञा बाहिर कहीं भी नहीं कही है।

पूर्वपक्ष-हमारे गुरुजी कहते हैं कि लब्धि तो मायी फोड़े परंतु अमायी न फोड़े।

उत्तर पक्ष-हे भाई सूत्र भगवतीजी का तीसरा शतक उद्देश चौथा में वैक्रिय लब्धि का खुलासा पाठ है परंतु शीतल लेश्या की लब्धि का नहीं शंका होवे तो देख लेना जो मायी होता है उसको वैक्रिय करने का भाव होता है तिसका कारण सूत्र में खुलासा है कि जो मायी होता है वह अति सरस आहार करने के कारण से शरीर में अति बल की वृद्धि होने के कारण से उसको उच्छ रंग कुतूहल उत्पन्न होने से वैक्रिय लब्धि फोड़े ऐसा सूत्र का मूलपाठ है तो वैक्रिय लब्धि के कथन का शीतल लेश्या का कथन कहना विरुद्ध है भगवान् ने गोशाला को बचाया सो तो करुणा करके और वैक्रिय का करणा तो कुतूहल रूप है सो यह तुम्हारा



लिखना ठीक नहीं कि लब्धि मायी फोड़े हां जरूर जो मायी साधु सरस भोजन पानादि करने के कारण से वैक्रिय लब्धि फोड़े वह आज्ञा बाहिर का कार्य है परंतु भगवान् तो परम संवेगवान ४ ज्ञान करके सहित थे और शीतल लेश्या लब्धि गोशाले पर दया अनुकंपा लाके साधु को बचाने के लिये प्रकट की है और शीतल लेश्या की लब्धि फोड़ना माया में या आज्ञा बाहिर सूत्र में कदापि नहीं कहा है।

पूर्वपक्ष-दया करके गोशाले को बचाया ऐसा कहां कहा है।

उत्तरपक्ष-सुनिये भाई सूत्र भगवतीजी का पन्द्रहवां शतक में यह पाठ है सूत्र।

तएणं, अहं, गोयमा, गोसालस्स, मंखलि, पुत्तस्स, अणुकंप, ट्ठयाए, वेसियायणस्स, बालतवसिस्स, साउसिए, तेयलेस्सा, तेय, पडिसाहरण, ट्ठयाए, एत्थणं, अंतराअहं, सीयलियं, तेयलेस्सं, णिसिरणमि, इति ॥

अस्यार्थः ॥ तएणं, अहं, गोयमा, गोसालस्स, मंखलि, पुत्तस्स, अणुकंप, ट्ठयाए के० तिवारे हुं हे गोतम गोशाला मंखलि पुत्र नै अनुकंपा ने अर्थे दया ने-अर्थे वेसियायणस्स, बाल, तवसिस्स, के० वैश्यायन बाल तपस्विनी अज्ञान कष्ट कारकनी-साउसिए, तेयलेस्सा, तेय, पडिसाहरण, ट्ठयाए, एत्थणअंतरा के० तिका उष्णतेजो लेश्या नातेज प्रते संहरवाने अर्थे दूर हरवाने अर्थे इहां विचाले-अहं, सीयालियं, तेयलेस्सं, णिसिरणमि, के० मैं शीतल तेजुलेश्या प्रेतमूकी इति सूत्रार्थः ॥

अब देखो सूत्रमें तो श्रीभगवान ने श्रीमुख से फरमाया

कि हे गौतम मैंने गोशाले को दया अनुकंपा करके बचाया, तो भाई दया करके बचाना तो धर्म में है तो गोशाला तो साधु था उसको बचाने में पाप तुम क्यों कर कहते हो.

पूर्वपक्ष-हमारे गुरुजी तो गोशाला को बचाना मोह अनुकंपा में कहते हैं.

उत्तरपक्ष-हे भाई इस सूत्र के मूलपाठ में तो मोह अनुकंपा का नाम ही नहीं है फिर तुह्मारे गुरुजी कैसे कहते हैं.

पूर्वपक्ष-इस विषय में हमारे गुरुजी टीका की साक्षी बतलाते हैं.

उत्तरपक्ष-हे भाई तुह्मारे गुरुजी की टीका की साक्षी वैसी ही है कि जैसी गोशाला जी की दीक्षा देने में टीका बतलाई है और अर्थ छोड़ के मन मान्या भावार्थ कुछ कर लिया वैसी ही टीका यहां बतलाई है तथापि हम बतलाते हैं तुह्मारे भ्रम विध्वंसन के पत्र ७१ में टीका लिखके अर्थ लिखाही नहीं, और समीक्षा में थोड़ा सा अर्थ लिख दिया सो बतलाते हैं.

टीका-( मैं पण इम कह्यो ते गोशाला नो रक्षण भगवंत ने कियो ते सरागपणे करी अनै स्वानुभूति सुनक्षत्र मुनिनों रक्षण न कह्यो ते वीतरागपणे करी एतो गोशाला ने बचायो ते सराग पणो कह्यो तो ए सराग पणा में धर्म किम होय ) इति.

अब विचारो भाई की प्रथम तो तुम याद रखणा कि सूत्रमें तो सराग पणो का नाम ही नहीं है, और टीकाकार जी ने लिखा है तथापि विचारना कि टीका की साक्षी देते हो. परंतु टीका कार जी की श्रद्धा तो तुह्मारी जैसी भगवान को



चूकने की नहीं थी, केवल तुम तेरे पंथियों को भ्रमके प्रताप से दीखता है.

पूर्वपक्ष-अगर चूकने की श्रद्धा टीकाकार जी की नहीं होती तो टीका में ऐसा क्यों कहा कि गोशाले को संरक्षण सराग-पणा करके भगवान ने करा.

उत्तरपक्ष-हे भाई टीकाकारजी ने तो संशय छेदने निमित्त यथातथ्य अर्थ की घटना करी है परंतु तुम्हारे गुरुजी ने उलटी श्रद्धी है सो हम टीका लिख के बतलाते हैं परंतु तुम याद रखना कि जहां हम टीका की साक्षी बतावें वहां ऐसा मत कहना कि हम टीका नहीं मानते हैं क्योंकि यहां पाठ में सराग का कथन नहीं हैं और टीका में सराग पने का कथन है परंतु मूल सूत्र के पाठ में नहीं है तो भी तुम्हारे गुरुजी ने टीका का आश्रय लिया है इससे चेताते हैं अब सुनिये टीका लिखते हैं।

टीका-इह च यद्गोशालस्य संरक्षणं भगवता कृतं तत्स-रागत्वेन दयैकर सत्वाद्भगवतः यच्च सुनक्षत्र सर्वानुभूति मुनि पुंगवयोर्न करिष्यति तद्वीतरागत्वेन लब्ध्यनुपजीव कत्वादवश्य भावि भग्वत्वा द्वेत्यवसेयमिति ॥ टीका ॥

टीकार्थः—यहां तो यह जो गोशाला की संरक्षण भगवान ने किया वह सरागपणा करके भगवान् का दयारूपी एक रसपणा से ज्यो तो सुनक्षत्र सर्वानभूतिजी ज्यो श्रेष्ठ मुनि हैं उनकी रक्षा नहीं करेंगे सो वीतरागपणा करके लब्धि का जीव का पणा का अभाव से अथवा भवितव्यता का अभाव से यह वार्ता जाननी इति टीकार्थ।

अब देखो टीकाकार जी ने तो लिखा कि गोशाला का संरक्षण भगवान् ने सरागपणे दया का रस से किया. तो दया का कारण तो धर्म में है तो फिर तुम टीका का नाम लेके भगवान को चूकना क्यों कहते हो?

पूर्वपक्ष—हमारे गुरुजीने भ्रम विध्वंसन में लिखा है कि सरागपणे में धर्म नहीं होता।

उत्तरपक्ष—हे भाई यह कथन पहिले हम सूत्र साक्षी से सिद्ध कर दिया है कि छद्मस्थपना का धर्म तो सरागपणे से होता है क्योंकि ४ चारित्र पांच संजय इनको भगवान ने सरागी कहे हैं सूत्र भगवतीजी का शतक २५ मा उद्देश छठा और सप्तम में है तो कहो यह सराग संयम में धर्म है कि नहीं।

पूर्वपक्ष-सराग संयम में तो धर्म है ऐसा हम भी मानते हैं क्योंकि अभी पंचम काल के जन्मे तो वीतराग संयमी होते ही नहीं किंतु सराग संयमी होते हैं और सराग संयमी में पाप मानिये तब तो पंचम आरा में धर्म ठहरे ही नहीं इससे सराग संयम भी धर्म में है।

उत्तर पक्ष—तो हे मित्रो वैसे ही तुम क्यों नहीं विचारते हो कि श्रीभगवान् भी सामायिक चारित्री सराग संयमी थे इससे टीकाकारजी ने सरागी पने से गोशाला को बचाने का लिखा तो सराग संयमी का कार्य तो सराग पने से ही होता है और वह धर्म के कार्य में धर्म में है इससे गोशाले को सराग पने से दयाभाव से बचाया तो उसमें भी धर्म है इस तरह न मानोगे तो फिर सराग संयम में धर्म ठहरेगा ही नहीं देव गुरु धर्म पै राग रखणा वह तो धर्म में है नहीं तो फिर सर्वानु-



भूतिजी अणगार ने श्रीभगवान पै आक्रोश करता हुवा गोशाले को धर्माचार्य के अनुराग करके रोका कि हे गोशाला भगवान तेरे उपकारी हैं तू इनसे द्वेष मत कर तो कहो भाई सर्वानुभूतिजी अणगार को श्रीभगवान ने बोलने की मनाई करी थी तो भी धर्माचार्य के अनुराग से बोले तो उनको धर्माचार्य पै राग रखने से धर्म हुवा कि पाप क्योंकि मूलपाठ में है कि सूत्र-तेणं, कालेणं, तेणं, समएणं, समणस्स, भगवउं, महावीरस्स, अंतेवासी, पाईण, जाणवए, सव्वाणु, भूई, णामं, अणगारे, पगइ, भद्दए, जाव, विणाए, धम्माण रियाणु, रागेणं, एयमट्ठं, असद्दहमाणे, उट्ठाए, उट्ठेइ, उट्ठेइत्ता। इति

इसका अर्थ सुगम है और पहिले लिख चुके हैं यहां मूलपाठ में कहा कि सर्वानुभूतिजी धर्माचार्य के राग से गोशाले का बचन भगवान को अवर्ण वाद बोलने रूप को सहन नहीं कर सके तब उठके गोशाले से बोले तो कहो भाई सर्वानुभूतिजी का श्रीभगवान पर राग करना धर्म है कि पाप में है।

पूर्वपक्ष— सर्वानुभूतिजी का तो भगवान पर राग करना धर्म में है, क्योंकि हमारे गुरूजी ने भ्रमविध्वंसन के ६३ मा पत्र में लिखा कि —अने ज्यो आज्ञा बारे हुवे तो भगवान तो पहिले जाणता हुंता. जेहुं बरजाऊं छूं पिण एतो बोलसी तो आज्ञा बारे थासी. इम बोल्या आज्ञा बारे जाणे तो भगवान बोलवारो क्यां ने कहे जो आज्ञा बारे हुता जाणे तो भगवान साधा ने आज्ञा बारे क्यों न कीधा तथावली बोल्या पिछे पिणनिषेधता जे म्हारी आज्ञा बारे बोल्या इसो काम कोई साध

करज्यो मती. इम कहितासो इम पिण कह्यो नहीं भगवान् तो अफूटा दोनों साधू ने सराया. विनीत कह्या छै. ते पाठ लिखी छै. इहां भगवंत ने सर्वानुभूति ने प्रसस्यो घणो विनीत कह्यो तिमि सुनक्षत्र मुनि ने विनीत कह्यो. ॥इति॥

उपरोक्त भ्रमविध्वंसन का लेख है. जिससे सर्वानुभूतिजी का बोलना भगवान पर अनुराग करना यह तो सर्व काम धर्म के हैं क्योंकि सर्वानुभूतिजी तो श्री भगवान के आज्ञा के आराधिक थे और जो सर्वानुभूतिजी को राग करने में दोष होता तो फिर वह आराधिक कैसे होते. इस से सर्वानुभूतिजी का अनुराग धर्म में ही जानना चाहिये.

उत्तरपक्ष–तो हे भाई ऐसे ही गुरु जी को समझादेवो कि सरागपणे में धर्म नहीं है ऐसी श्रद्धा नहीं रक्खे और भ्रमविध्वंसन का ७१ मा पत्र में सरागपणे में धर्म नहीं ऐसा लिखा सो शुद्ध कर लेवो. और जैसे सर्वानुभूतिजी सरागी थे जिससे परमेश्वर पर सरागपणा किया वह धर्म में है वैसेही भगवंत श्री महावीर जी ने दया में सरागपणा करके गोशाले को बचाया सो सरागी का देव गुरू धर्म पर सरागपणा भी धर्म का कारण है. जब भगवान सरागी थे जिस से दया धर्म के राग से बचाया, परंतु अन्य राग से नहीं.

पूर्वपक्ष–दया रूप राग से बचाया ऐसा कहां लिखा है.

उत्तरपक्ष– इसी सूत्र की टीका में कहा है सो तुम्हारे गुरू जी ने टीका तो लिखी परंतु अर्थ नहीं किया, सो हमने टीका अर्थ दोनों लिख दिया है, कि ( दयैकरसत्वात् ) दया रूपी एक रसपणा से यह टीका का लेख है, और मूल सूत्र पाठ



में भी लिखा है सो विचार के पक्ष छोड़ना ठीक है. और गुरू जी को भी समझादेना चाहिये कि सर्वानुभूतिजी का धर्माचार्य के ऊपर राग करना धर्म में है तो परमेश्वर की दया का रस रूप राग धर्म में क्यों नहीं मानते हो.

पूर्वपक्ष–अगर गोशाले को बचाने में धर्म हुवा तो फिर श्री भगवान के सामने गोशाला ने तेजुलेश्या से दो साधुवों को भस्म किया, उससमय उनको क्यों न बचाया.

उत्तरपक्ष–हे भाई यह शंका तो टीकाकार जी ने मेटही दी है. कि बीतराग लब्धि से उपजीवना नहीं करते हैं क्योंकि केवलज्ञानी है सो निश्चय ही जानते हैं कि इनका मृत्यु आगया जिससे उपजीवना नहीं किया परंतु इतनी तो विचारो कि श्रीभगवान जानते थे कि यह दोनों मुनि गोशाले से बोले बगैर नहीं रहेंगे और गोशाला इनको भस्म करेगा तो फिर इन दोनों संतो को विहार क्यों न कराया, या अलग दूसरे ठिकाने क्यों नहीं भेज दिये, क्योंकि लब्धि फोड़ के बचाने में तो तुम पाप मानते हो, परंतु विहार कराने में तो पाप नहीं था क्योंकि विहार कराना तो तुम्हारे गुरु जी भी धर्म में मानते हैं तो फिर विहार क्यों न कराया.

पूर्वपक्ष–उन दोनों साधुवों का आयुष्काल आ गया था और भगवान नें जान लिया था कि इन दोनों साधुवों की घात गोशाला से ही जरूर होगी टाली नहीं टलेगी, तिससे विहार न कराया, परंतु आनंद साधूके साथ गौतमादि साधुवों को कहलाया कि गोशाले से धर्म की चर्चा मत करना क्योंकि गोशाला ने साधुवों से मिथ्यापणा द्वेषभाव को अंगीकार किया

है यह साधुवों की रक्षा के वास्ते कहलाया, क्योंकि हमारे गुरु जी ने भी भ्रमविध्वंसन में ९३ मा पत्र में लिखा कि, ( गोशाले कह्यो हुं बालनाक सुंत बालवारा कारण माटे भगवान् साधाने बोलणो वर्ज्यो छै ) इससे भगवान् ने रक्षा निमित्त वर्ज दिया, परंतु होन हार नहीं टरे.

उत्तरपक्ष-हे भव्य ऐसे ही तुम समझ लेवो कि श्रीपरमेश्वर ने तो साधू की रक्षा करने में धर्म जाना है, तबही आनंद साधू के साथ गोशाले से बोलने का साधवों को मनादि किये हैं, परंतु भवितव्यता का क्या, सो तुम ऐसी व्यर्थ तर्कना मत करो, कि भगवान ने दो साधुवों को क्यों न बचाये, फिरयह भी विचारो कि सूत्र समवायांग जी का ३४ वां समवायांग में श्रीभगवान के ३४ अतिशय का वर्णन है, तिसके मूलपाठ में कहा कि भगवान् विचरे जहां २ पचीस योजन तक अति शीत मार मरगी नहीं होवे, देवता मनुष्य तिर्यंच के परस्पर वैरभाव नहीं जागे, तो फिर भगवान के समव सरण में गोशाला ने उपसर्ग कैसे करा.

पूर्वपक्ष-यह तो भवितव्यता से हुवा. जिसमे इस बात को आश्चर्य भूत हुई सिद्धांत में कही है.

उत्तरपक्ष-ऐसेही तुम समझ लेवो कि श्रीभगवान ने सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि की रक्षा होणहार से नहीं करी होनहार टाले नहीं टलता है, साधू साध्वी की रक्षा करने का धर्म तो श्रीभगवान ने बताया है तिससे सूत्र ठाणांग का पंचमा ठाणे का उद्देशा दूसरा में कहा कि साधू साध्वी को कादा में खुत्ती हुई को पानी में डूबती हुई को ग्रहण कर लेवे तो साधू



भगवान की आज्ञा को नहीं उलंघे तो देखो साधू की रक्षा करने में पाप होवे तो साधू उसको जल से क्यों निकाले, परंतु पाप नहीं, तथा सूत्र व्यवहार के दूसरा उद्देश में कहा कि जिस साधू को नवा साधू पना आवे, और दोष वाला होवे और रोग से गिलान हो गया होवे, तो उसे नवी दीक्षा आवे, ऐसा दोषवान साधू को भी जबतक उसका रोग नहीं मिटे तब तक गच्छ बाहिर करना नहीं कल्पे, किंतु बहुत उत्साह सहित समुदाय के साधुवों को उस सदोष साधू की व्यावच करणी कल्पे, यह कथन मूलपाठ में है, अब देखो भाई साधू को नवीन साधू पणा योग्य है, तथापि रोगी अवस्था में होवे तो उसको समुदाय बाहिर नहीं करे, क्योंकि रोगी को समुदाय से अलग करने से साधु को करुणा नहीं रेवे, और जगत मे धर्म की निंदा होवे, इससे परमेश्वर ने रोगीला होवे तो नवीन दीक्षा योग्य सदोष साधू की भी अन्य साधू को भी व्यावच करने का कल्प बताया, परन्तु गच्छ से बाहिर करना परमेश्वर ने नहीं बताया, तो फिर हे भाई गोशाला भी साधू था, और वैश्यायन बाल तपस्वी उसको जलाता था, तिसवक्त गोशाले को भगवान् अपना शिष्य जान के करुणा भाव से बचाया, जैसे साध्वी को जल से नणाती को करुणा करके, काढ़े तो साधू को दोष नहीं, तैसेही वैश्यायन बालतपस्वी के तेजु लेश्या की अचित्त अग्नि से, बलते हुए अपने शिष्य गोशाले को भी बचाने में दोष नहीं किंतु करुणारूप धर्म में है--

पूर्वपक्ष-गोशाले को साधू कहां कहा है.

उत्तरपक्ष-प्रथम तो तुमने प्रश्नोत्तर के चौथे पृष्ठ पर लिखा कि, श्रीभगवान् ने गोशाले को दीक्षा दी और दीक्षा देना तुमने माना तो गोशाला साधू होही चुका, तथा तुह्मारा भ्रमविध्वंसन का ८३ मा पत्र पर लिखा है, गोशाले को साधू माना है, और साधू को भगवान् ने बचाया सो धर्म में है परंतु चूकने में कदापि नहीं, बस इसके आगे जो तुह्मारा चौथा पृष्ठ २६ मी पंक्ति से लेकर पंचम पृष्ठ २० मी पंक्ति तक का जो लेख है वह पूर्व पक्षादिक क्रिया से प्रत्युत्तर लिखते हैं.

पूर्वपक्ष-खैर हमारी भगवान् को चूकने के विषय की सूत्र साक्षी सत्य नहीं ठहरी तो आप हमको सिद्धांत का पाठ ऐसा बतलावो कि श्रीभगवान् नहीं चूके.

उत्तरपक्ष-हे भाई चूकना सिद्ध ही नहीं तो नहीं चूकना तो कुदरती ही सिद्ध हो गया. तथापि हम तुमको सूत्र की साक्षी बतलाते हैं. सूत्र आचारांग का पहिला स्कंध का ८ मा अध्ययन की ८ मी गाथा में खुलासा पाठ है सो सुनिये।

सूत्र-णच्चाणंसे, महावीरे, णोविय, पावगं, संयमकासी, अणेहिंविण, कारित्था, कीरंतंपि, णाणु, जाणित्था, इति।

अस्यार्थः-णच्चाणंसे, महावीरे, के० हेयोपादेय स्वरूप जाणी नैं तेणें भगवंत श्री महावीर-णोविय, पावगं, संयमकासी, के० आपण में पाप न कीधो-अणेहि, विणकारित्था, के० अनेरा पासे न कराव्युं—कारंतं, पिणाणु, जाणित्था, के० अनेरे करता अनुमोद्यो नहीं इम त्रिविध त्रिविधे श्री महावीर देवे पाप निषेध्यो ॥ इति सूत्रार्थः ॥

अब देखो सूत्र में कहा कि श्री महाबीर देव ने पाप किया



नहीं. कराया नहीं. करते को भला जाना नहीं. तो तुम समझ लेवो कि भगवान् को चूके का आल देना अच्छा नहीं तथा इसी उद्देश की १५ मी गाथा में पाठ है कि ( छउमत्थोवि, परक्कममाणो, णपमायं, सयंपि, कुव्वित्था, इति )

अस्यार्थः-छउमत्थोवि, परक्कममाणो, के० छद्मस्थ छतो पिण विविध अनेक प्रकार संयमानुष्ठान विषे पराक्रम करता. णपमायं, सियंपि, कुव्वित्था, के० एके बार प्रमाद कषायादिक न करे स्वामी इणपरे प्रवृत्या इति सूत्रार्थः।

अब देखो भाई छद्मस्थपने में भगवान ने एक बार भी प्रमाद पाप नहीं किया. तो फिर तुम्हारा लिखना सर्वथा असंभव हुवा. कि भगवान छद्मस्थपने में चूके. सूत्र की प्रतीत होवे तो कपोल कल्पना को त्याग करना ही ठीक है.

पूर्वपक्ष-इसका अर्थ तो हमारे गुरुजी ऐसा करते हैं कि यह तो सुधर्म स्वामी ने भगवान् का गुण वर्णन किया है. इससे गुण वर्णन का प्रकरण में गुण ही होता है। अवगुण की अपेक्षा यहां नहीं किया।

उत्तरपक्ष-हे भाई यह कहना भी सूत्र को अच्छी तरह से नहीं जानने का है क्योंकि सूत्र में तो ऐसा नहीं कहा कि सुधर्म स्वामी ने गुण के प्रकरण में गुणहीज करे. अवगुण को छोड़ दिये.

पूर्वपक्ष-जब सूत्र में क्या कहा है ?

उत्तरपक्ष-हे भाई आचारांग का नवमाध्ययन का वर्णन शुरु हुवा तहां ऐसा पाठ है.

सूत्र-आहा, सूयं, वदिस्सामि, जाहासे, समण, भगवं, उट्ठाए, इति।

अस्यार्थः-आहा, सूयं, वदिस्सामि, के० श्री गुरु शिष्य प्रते कहे छै जिसा मैं साभल्यो तिम हु कहेस्यो। जाहासे, समण, भगव, उद्दाण, के० जिमते श्रमण भगवंत महावीर स्वामी उग्रविहार आदरी विचरे इति सूत्रार्थः।

अब देखो सूत्रकृत सुधर्म स्वामी तो ऐसे कहते हैं कि मैंने जैसा श्रमण भगवंत महावीर स्वामी का विचरणा यानी जैसे विहार किया. जैसा मैंने सुना तैसे मैं कहूंगा ऐसा कहा है परंतु ऐसा नहीं कहा कि मैं भगवान का गुण २ वर्णन करूंगा. और ऐसा भी नहीं कहा कि अपनी मति से भगवान का गुण वर्णन करूंगा. सुधर्म स्वामी ने तो साफ कहा कि जैसा मैंने सुना वैसा यथातथ्य कहूंगा. क्योंकि गणधरों को तो सिखाने वाले तीर्थंकर ही है ( अत्थं, भासइ, अराहा, सुत्तं, गुथइ, गणधरा ) इति वचनात् और तीर्थंकर जो स्वरूप कहते हैं वह यथातथ्य ही कहते हैं परंतु चूके को नहीं चूका ऐसा कदापि नहीं कहते हैं क्योंकि वीतराग होने के बाद सूत्र प्ररूपने से कोई शंका करे कि भगवंत के गुण भगवंत ने सुधर्म स्वामी को कैसे सिखाये क्योंकि आपके गुण आप मुख से नहीं कहैं तिसका उत्तर हे भव्य विना सुने तो (आहासुत्तं) शब्द सूत्र में कहा ही कैसे और सूत्र में कहा तो सुधर्म स्वामी के गुरू तो महावीरजी ही थे सो दीपिका में भी कहा है कि ( आर्य सुधर्म स्वामी के जम्बू स्वामी ने पृच्छते कथयति यथाश्रुतं वदिष्यामि ) इति अर्थः।

आर्य सुधर्म स्वामी है सो पूछने वाले जम्बू स्वामी के ताईं कहते हैं कि जैसे मैंने गुरुमुख से सुना वैसेही कहूंगा इति.



अब देखो भाई दीपिका में भी कहा है कि सुधर्म स्वामी जम्बू स्वामी के ताईं ऐसे कहते भये कि जैसा मैंने गुरुमुख से सुना वैसा मैं तुझे प्रते कहूंगा तो देखो सुना तैसा कहा तो गणधर तो सूत्र तीर्थंकर से ही सुन के रचे हैं और यह शंका तुम्हारी है कि आपके गुण आप कैसे सिखाये तो भाई भगवंत ने अपने गुण करने का न कहा परंतु जैसे आप छद्मस्थपने में विचरे थे वैसा हाल सुनाया तिसको सुन के सुधर्म स्वामी ने सूत्र मे गूंथा तो भगवंत वीतरागी थे जो चूके होते तो कभी नहीं गोपते परंतु नहीं चूके नहीं चूके नहीं चूके सिद्धांत प्रमाण से नहीं चूके।

पूर्वपक्ष-हमने गुण के विषय में गुण ही होवे उस में कोणीक राजा की साक्षी दी है कि कोणीक राजा पिता का अविनीत था. परंतु सुधर्म स्वामी ने गुण के वर्णन में माता पिता का विनीत कहा।

उत्तरपक्ष-हे भाई प्रथम तो यह साक्षी ही सूत्र के अजानपने की है क्योंकि सूत्र में कोणीक को विनीत कहा उस वक्त वो विनीत ही था परंतु अविनीत को विनीत नहीं कहा क्योंकि सूत्र निरयावलीका में कहा है कि पहिले तो कोणीक ने पिता को राज्य का लोभ से पिंजरे में देदिया. पीछे माता के समझाने से श्रेणिक राजा पैं अत्यन्त देवगुरु सरीसा प्रेम लाये और पिंजरा खोलने को स्वयं गये. परंतु होतबकाल से राजा ने उलटा समझा कि मुझे यह पुत्र मारने को आता है ऐसा जान के तालपुट जहर खाके मरगया. ततपिछै कोणीक ने बहुत शोच किया. सो सूत्रपाठ दिखाते हैं।

सूत्र-अहोणं, मए, अधन्नेणं, अपुन्नेणं, अकयपुन्नेणं, दुठंकयं, सेणियं, रायं, पिय, देवगुरु, जणगं, अचंतनेहाणु, रागरत्तं, नियल, वधणं करत्तेणं इति ।

अस्यार्थः-अहो २ में अधन्येन पूज्य रहित अकृत पुन्य दुष्ट पणो कीधो में श्रेणिक राजा देव गुरु सरीसो अतिहि स्नेह ने अनुरागी ने वेड़ी बंधन कीधा हुतो ॥ इति सूत्रार्थ

अब देखो सूत्र के मूलपाठ में कोणीक ने श्रेणिक को पिंजरे में देने का सोच किया और फिर अगाड़ी इसी सूत्र में कहा है कि राजा कोणीक को राजगृह में रहते पिता का शोक बहुत होता हुवा तिस्से राजगृह नगर को छोड़ चंपानगरी में जाके बसे यह कथन सूत्र का मूलपाठ में है ग्रंथ बढ़ने के भय से हमने नहीं लिखा है शंका होवे तो देख लेना अब विचारो कि सुधर्म स्वामी ने कोणीक को विनीत सो राजगृह से चंपा में गये बाद कहा क्योंकि उवाई सूत्र में अधिकार चंपा नगरी का है परंतु राजगृह का नहीं सो कोणीक पहिले अविनीत था सो सूत्र में अविनीत कहा पीछे विनीत हुवा सो विनीत कहा जैसे कि सूत्र राय प्रश्रेणि में राजा प्रदेशी पहिले तो महा अधर्मी था सो अधर्मी कहा फिर केशी स्वामी के समझाने से धर्मी हुवा तो धर्मी कहा वैसे ही कोणीक अविनीत था। तो अविनीत कहा फिर माता चेलणा के समझाने से विनीत हुवा तो विनीत कहा वर्तमान काल में कोई पुरुष पापी होवे तो पापी कहा जावे फिर पाप छोड़ के धर्म अंगीकार कर लेवे तो धर्मी कहा जावे यह क्या नीति की बात है कि एक वक्त कोई खोटा काम कर लेवे तो फिर



उसको उमर तक खोटा कहना चाहे वह धर्मी होगया होवे तो भी पापी कहना नहीं २ बुद्धिमान को जिस वक्त जैसा होवे उस वक्त वैसा ही कहना चाहिये नहीं तो फिर प्रदेशी राजा को भी तुम को पापी कहना पड़ेगा ।

पूर्वपक्ष-प्रदेशी राजा पाप छोड़ के पीछे महा धर्मवान हुए हैं ।

उत्तर पक्ष-बस वैसे ही कोणीक राजा भी अविनीत पणा को छोड़ के श्रेणिक को देवगुरु सरीसा समझा है सो विनीत ही हैं तिस्से सुधर्म स्वामी ने उवाइ में श्रेणिक के अंतकाल किये पीछे चंपा नगरी आये बाद विनीत कहा है सो कोणीक का नाम ले के गुण के प्रकरण में गुण ही हो सकते हैं ऐसा कहके भगवान महावीर स्वामी दोष सिद्ध करने को सूत्र की विपरीत अर्थ करने की चेष्टा करनी मिथ्या है क्योंकि कोणीक को सुधर्म स्वामी ने ऐसा नहीं कहा कि कोणीक ने सर्व भव में माता पिता का अविनय किया ही नहीं सूत्र में तो वर्तमान में जैसा कोणीक था वैसा कहा और भगवंत महावीर स्वामी का कथन तो जैसा यथातथ्य सुना वैसा कहा कि भगवंत ने छद्मस्थपने में एकही बार पाप नहीं लगाया तो कोणीक के विषय का कथन और भगवान के विषय का कथन एक जैसा नहीं है तो सूत्र साक्षी सहित महावीर प्रभु दीक्षा लिये बाद नहीं चूके यह सिद्धांत से सिद्ध हुवा ॥ इति प्रत्युत्तर दीपिकायां प्रथम प्रत्युत्तर समाप्तम्॥

——:०:——

## ❀ प्रश्न दूसरा प्रारंभ ❀

साधूजी के सिवाय दान में एकांत पाप कहते हो सो पाठ दिखलावो.—

उत्तर तेरे पंथियों का— श्री भगवान महावीर स्वामी से गौतम स्वामी ने प्रश्न किया कि, असंयति अव्रती को सूझता असूझता सचित्त अचित्त, अशन पान (खानपान) देवे दिवावे देते हुए को अनुमोदना करे ती काइं हुवे.

उत्तर — ( एगंतसोसे, पावे, कम्मे, कज्जति,) एकांत पाप कर्म होवे किंचित् निर्जरा नहीं. यह पाठ भगवती सूत्र के अष्टम शतक के छटे उद्देश में है यह तेरे पंथियों का उत्तर है . ।

अब सत्यासत्य का निर्णय सुनिये. हे तेरे पंथी मित्रों यह तुम्हारा उत्तर गोलमाल सूत्र से विरुद्ध है जो सूत्र पाठ अर्थ टीका में कहांपि नहीं मिलै. ऐसा क्योंकर लिख दिया. परंतु तुम क्या करो तुम्हारे को तो तुम्हारे गुरुजी ने गोलमाल वार्ता सूत्र का नाम ले के सिखाई वही तुमने पुस्तक में छपवा दी है परंतु हमारा यह कहना है कि सूत्र की वार्ता को बिना विचारे सूत्र का नाम ले के छपवानी नहीं थी. परंतु खैर शुक (सुवे) को जैसा पढाने वाला बुलावे वैसे ही सुवा बोले. खैर हुवा सो हुवा परन्तु अब सूत्र भगवतीजी का अष्टम शतक का छटे उद्देश पाठ अर्थ टीका सहित लिख दिखाते हैं सो एकाग्रचित्त होकर के ध्यान लगा कै श्रवण करिये ।



समणो, वासगस्सणं, भंते, तहारूवं, असंजय, अविरय, अपडिहय, पच्चरकाय, पावकम्मे, फासुएणवा, अफासुएणवा, एसणिज्जेणवा, अणेसणिज्जेणवा, असण, पाण, खाइम, साइमेणं, पडिलाभे, माणस्स, किंकज्जई, गोयमा, एगंत, सोसे, पावे, कम्मे, कज्जइ, णत्थिसे, काइ, निज्जरा कज्जइ, ॥ इति ॥

अस्यार्थः-समणो, वा, सगस्सणं, भंते, के०-श्रमणोपासक नइहे भगवन् तहारुवं, के०-तथा रूपचारित्र गुण करी रहित. असंजय के० असंयति, अविरय, के० अविरति, अपडिहय, पच्चरकाय, पावकम्मे, के० पचख्यान थी पाप कर्म जिणई इत्यादिक गुण करी रहित पात्रनो विशेषण कहुं ते प्रतइ फासुएणवा, के० फ्रासुक, अचित्त, अफासुएणवा, के० अफ्रासुक सचित्त सजीव-एसणिज्जेणवा, के० एषणीय दूषण रहित अणे सणिज्जेणवा, के० अनेषणीय दूषण सहित एहवा, असण, पाण, खाइम, साइमेणं, के०,-अन्नपाणी खादिम सादिम पडिलाभे, माणस्स, किंकज्जइ, के० प्रति लाभ तो थको देतो थको तेहने कांइ फल हुवे. इति प्रश्न ।

उत्तर-गोयमा, के० हे गौतम-एगतं, सोसे, पावेकम्मे, कज्जइ, णत्थि, सेकाई, निज्जरा, कज्जइ, के०—एकांत से तेहने पाप कर्म हुवइ एतले गुण रहित नइ फ्राशुक अफ्राशुका दिक दान ते पाप कर्म फल कह्यो. अने निर्जरा ने अभाव कह्यो. पणि तिहां गुरु सम्प्रदाय इए जाणवुं जे मोक्षनो कारण तेन हुइं पणि अनुकंपादान कि हांइं निषेध्यो नथी सूत्र मेइं संयति नइं दान कह्यो. ते मोक्षार्थे इकह्यो छे तो पणि गृहस्थी

नइं अनुकंपादान अने उचितदान देवानो निषेध नथी. उक्तं च ( मोरकत्थंजं, दाणं, तंपइएसो, विहीमखाउ, अणुकंपा, दाणं, पुण जिणेहिं. नकयाइं, पक्षिसेद्धंति ।

पुनरुक्तंच ( अभयं, सुपत्तदाणं, अणुकंपा, उच्चिय, किंत्तिदाणाइं, दुन्नवि, मोरकोभणिउ तिन्निविभोगा, इयंदिंति ॥ इति सूत्रार्थः ॥

अब टीका भी सुनिये. टीका–सूत्र त्रयेणापि चाने नमोक्षार्थेमेव दानं तच्चिंतितं. यत्पुनरनुकंपादानमौचित्य दानं वा तन्नचिंतितं निर्जराया स्तत्रानपेक्षणीमत्वाद नुकं पौचित्ययौ रेव चापेक्षणीयत्वादिति. उक्तंच–मोरकत्थं, जंदाणं, तंपइएसो, विही, समरकाउ, अणुकंपा, दाणंपुण, जिणेहि, नकयावि, पडिसेद्धंति इति टीकार्थः ।

इन सूत्र तीनों करके, यानी समणो वा सग फासुक एषणीक आहार. तथा रूप के मुनि को प्रति लाभे. और समणो वा अफासुक अनेषणीक तथा रूप के मुनि को प्रति लाभे. और समणोपासक तथा रूप के असंयति अव्रतीको प्रतिलाभे. इन तीनों सूत्रों करके मोक्ष के अर्थ जो दान देणा तिनका चिंतना करी गई. और फेर जो अनुकंपादान है. उन की यहां चिंतना नहीं करनी. निर्जरा की तहां अपेक्षा नहीं होने से, अनुकंपा और औचित्य इनकी ही अपेक्षा होने से. यह कहा भी है कि मोक्ष के अर्थ जो तथा रूप के असंयति अव्रती मिथ्यात्व के भीखधारी को धर्म बुद्धि करके दान देवे तिसकी यह विधि कही है. यानी एकांत पाप कहा है. पुनः जो अनुकंपा करके दुखी भूखा को अन्नादिक देना तिसका



तीर्थंकर ने कोई भी जगह निषेध नहीं किया है इति टीकार्थः ।

अब बिचारो कि भाई सूत्र के अर्थ में और टीका में तो साफ लिखते हैं कि तथा रूप के असंयति अव्रती को गुरु बुद्धि से मोक्षार्थ देवे उसको एकांत पाप कहा. परन्तु अनुकंपा करके दुखी आदिक को देवे उसमें एकांत पाप तीर्थंकर ने कहां भी नहीं कहा. ऐसा टीका अर्थ दोनों में साफ खुलासा है. तो हे मित्रों तुमने तथा रूप के असंयति अव्रती को मोक्षार्थ देवे उस अर्थ को छोड़ के गोलमाल भावार्थ लिख दिया कि असंयति अव्रती को देवे. दिवावे. देते हुए को भला जाणे तो एकांत पाप होवे. ऐसा विपरीत अर्थ का लेख मूल पाठ प्राचीन अर्थ टीका सर्व से विरुद्ध लिखा है. सो हमने मूलपाठ प्राचीन अर्थ और अभयदेव सूरिजी कृत टीका की जो बिक्रम संवत् ११३० के लगभग बनी है. वह ऊपर लिख दी है तो अहो देवानुप्रिया विचारो कि सैंकड़ों वर्षों का प्राचीन अर्थ और टीका से विरुद्ध अर्थ कि जो मूल पाठ से ही नहीं मिले ऐसा पक्षपात से किसी के सिखलाने से नहीं लिखना. क्योंकि इससे आत्मा को भी इस लोक परलोक में नुकसान और दूसरे मनुष्य भी जैनमार्ग की निंदा करें ऐसा अनुचित सिद्धांत विरुद्ध काम की हिम्मत नहीं चलानी थी. जरा परभव का भी भय रखना था. परन्तु खैर अब भी सूत्र अर्थ टीका को देख करके अशुद्धता मेटो.

पूर्वपक्ष–हमतो ऐसा कहते हैं कि अव्रती अपचरवाणी जिसके व्रतपचरवाण नहीं होवे उन मंगता भिखारी आदि सर्व को मोक्षार्थ नहीं जानके किंतु, करुणा करके दान देवे

उसमें भी एकांत पाप होता है, और साधूपणा का गुण करके सहित यानी संयमवंत को दान देवे, उसमें एकांत धर्म कहते है. परंतु भेष का कारण कुछ नहीं.

उत्तरपक्ष–हे मित्र ऐसी तुह्मारी श्रद्धा न होवे कि भेष का कारण कुछ भी नहीं तो तुह्मारे तेरेपंथियों के भेष के सिवाय अन्यभेष यानी लिंगवान् साधू का दान सन्मान करने वाले को तुह्मारा गुरुजी और तुम पाप क्यों श्रद्धते हो, क्योंकि सिद्धांत में तो तीनों भेषयानी स्वलिंगी बीतराग के साधू का भेष में अन्य दर्शन तापसादिक का भेष में और गृहस्थी का भेष में इन तीनों भेष में भाव चारित्र होता है, ऐसा सूत्र में खुलासा लिखा है, सो सूत्र का पाठ लिखते हैं ध्यान लगा के सुनिये. सूत्रपाठ.

पुलाएणं, भंते, किं, सलिंगे, होज्जा, गिह, लिंगे, होज्जा, गो, दव्वलिंग, पडुच्च, सलिंगे, वा, होज्जा, अणलिंगेवा, होज्जा, गिहिलिंगेवा, होज्जा, भावलिंगं, पडुच्च, णियमं, सलिंगं, होज्जा, एवं, जाव, सिणाए इति सूत्र भगवती जी का श० २५ मा उ० छठा में है.

अस्यार्थः–पुला कहे भगवन् पोताने लिंगे हुवे अथवा अन्य लिंग में हुवे, इति प्रश्न-उत्तर-हे गौतम द्रव्य लिंगइ असारी स्वलिंग रजोहरणादिक भेष में हुवे कुतीर्थिकतापसादिक ने लिंगे हुवे गृहस्थ ने लिंगे हुवे, भाव लिंग ज्ञानादिक आसरी निश्चय स्वलिंगेज हुवेइम यावत स्नातक लगे कहेवों, । इति सूत्रार्थः

अब इस सूत्रपाठ में देखो कि द्रव्यलिंग यानी भेष आश्रयी ६ हीनियंठे साधू के भेष और अन्य दर्शनिक सन्यासादिक



का भेष और गृहस्थ स्त्री पुरुषादिक का भे , यानी तीनों भेष में होते हैं या भगवती जी का २५ मा शतक ७ मा उद्देश में, सामयिक १ छे दोप स्थापनीया २ सूक्ष्म संपराय ३ यथाख्यात ४ यह चारित्र भी भेष आश्रयी तीनों भेष में होते हैं, ऐसा मूलपाठ में है, तो हे मित्रो तुम और तुह्मारे गुरु अपने भेष के सिवाय अन्य भेष यानी दूसरे को दान देने में पाप क्यों समझते हो, क्योंकि जब तुम भेष का कारण नहीं मानो और केवल गुण औगुण कोहीज मानोगे, तो सूत्र वचन के विराधिक ठहरोगे कदाचित तुम कहो कि गृहस्थ के लिंग में साधूपना तो पावे है, परंतु कोईक में होता है सो हमको अवध्यादिक प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं, परंतु केवल ज्ञानी जी महाराज छत्ता किसी को गृहस्थ के लिंग में भावा चारित्र आया देखा तो वंदनादिक अपने साधू से संभोग करने की आज्ञा देवे कि नहीं या श्रावक लोगों को वंदना दानादिक कार्य की आज्ञा देवे कि नहीं तब तो तुमको भी कहना पड़ेगा, कि दान वंदनादिक तो भेषसहित साधू को, और व्यवहार में महाव्रत पालने वाले को दान मान करने में एकांत धर्म है उनका दान मान करने की आज्ञा दी जाती है परंतु भेष विना नहीं, तो हे भाई जैसे साधू को लिंग और गुण सहित को गुरुबुद्धि से मोक्षार्थे वंदनादिक करने में एकांत निर्जरा करी है. तैसे ही लिंग और मिथ्यात्वी कुपात्र को गुरुबुद्धि से मोक्ष के अर्थ ही देने में एकांत पाप कहा है. परंतु अनुकंपा करके देने में नहीं. क्योंकि इसी भगवती जी के अष्टमा शतक का छठा उद्देश में तीन पाठ चले हैं तिसमें प्रथम पाठ तो श्रमणोपासक श्रावक, तथा रूप के समण माहण

को फ्रासुक एषणीक ४ आहार से प्रतिलाभे. उसको एकांत निर्जरा कही है और दूसरे पाठ में श्रमणोपासक तथा रूप के समण माहण को अफ्रासुक अनेषणीक प्रतिलाभे तिस में अल्पपाप और बहुत निर्जरा कही है. इस दूसरा पाठ की व्याख्या सूत्र के अर्थ और टीका में विस्तारपूर्वक अनेक विधान से कही है. सो उसको देख के समझ लेना. ग्रंथ बढ़ने के कारण से हमने यहां नहीं लिखा. और तीसरा पाठ में श्रमणोपासक तथा रूप असंयति अव्रती मिथ्यात्वी को ४ आहार फ्रासुक अफ्रासुकादि करके गुरुबुद्धि से मोक्ष के अर्थ प्रतिलाभे तो एकांत पाप होवे. अब जरा सूत्रों के अर्थ पर समदृष्टि करके विचारो कि तीनों ही पाठ में तहारूवं शब्द है. और पडिलाभमाणे शब्द है इससे स्पष्ट ही दीखता है कि तथा रूप के समण माहण यानी. भेष व्यवहार गुण करके सहित कुफ्रासुक एषणीक आहार श्रावक प्रतिलाभे तो एकांत निर्जरा कही है. वैसे ही तथा रूप के असंयति अव्रती यानी मिथ्यात्व का भेष करके सहित और असंयम. अव्रत. मिथ्यात्व, और कुपात्र पणा का अवगुण करके सहित को मोक्ष के अर्थ देवे तो, एकांत पाप श्रावक को लागे, परंतु जैसे व्यवहार में गुणरहित केवल भेष धरवा वाला साधू, या निश्चय में गुण सहित परंतु गृहस्थी आदि के भेष में रह्या को दान देने में एकांत निर्जरा नहीं है और भेष गुण सहित को दान देने में एकांत निर्जरा कही है वैसेही मिथ्यात्व का केवल भेष है परंतु कुपात्र पणा का अवगुण नहीं है अबड़जी सन्यासी, या उनके शिष्यवत, या मिथ्यात्व कुपात्रपणे का अवगुण है



परंतु मिथ्यात्व का भेष मिथ्यात्व का उपदेशक गुरु नहीं हुवा तो इन दोनों को दान देने में एकांत पाप नहीं है, तो भद्रिक दुखी दरिद्री मरते हुए को दान देने में तो एकांत पाप होवे ही कहां से, और मिथ्यात्व का भेष धरा है, और मिथ्यात्व के ही अवगुण का पंथ प्ररूपणादिक का होवे. उसको मोक्ष के अर्थ गुरुबुद्धि से देवता श्रावक को एकांत पाप कहा है परंतु करुणा करके देने में नहीं और अगर तुम हठवाद करके कहोगे कि भेषरहित असंयति या दुखी दरिद्री को देने में एकांत पाप होवे तो फिर तुमको साधू का भेष रहित गृहस्थ के भेष वाले भाव चारित्री को दान देने में एकांत निर्जरा माननी पड़ेगी सो तुह्मारे गुरु जी का किया भ्रमविध्वंसन में अन्य तीर्थी का लिंग में केवल ज्ञान उपजे तो तो भी वंदना करना नहीं मानी है. सो लिखते हैं. भ्रमविध्वंसन का १०८ मा पत्र में ( अन्य तीर्थिना भेष में केवल ज्ञान उपजे ते उपदेश देने नहीं. जो साधू श्रावक केवली जाणे तो पिण ते अन्य लिङ्ग थकी तिण ने प्रत्यक्ष वंदना. नमस्कार करे नहीं. तेहने अन्यमति नो लिंग छे ते माटे ) अब विचारो कि भेष का कारण नहीं होवे तो यहां तुम्हारे गुरुजी केवलीजी महाराज अन्य दर्शनी का लिंग में होवे तो साधु श्रावक वंदना नहीं करे ऐसा क्यों माना. तो सिद्ध हुवा कि भेष का कारण जरूर है. अब यहां भेष के ४ भांगे उत्पन्न होते हैं सो सुनिये. प्रथम भाग में निश्चय में भाव साधू और भेष करके सहित दूसरे भंग में निश्चय में अभवि मिथ्यात्वी और व्यवहार साधू आचार और भेष करके सहित तीसरे भंग में निश्चय में तो साधू भावा चारित्र सहित व्यवहार

में गृहस्थी को भेष तथा अन्य लिङ्गी को भेष. चौथा भंग में ३६३ मत पाषंडी को भेष. अरु निश्चय में मिथ्यात्वी असंयति अब विचारो कि इन ४ भांगे में से तथा रूप का साधू न्याय से और तुम्हारे गुरुजी का लेख से पहिले दूसरे भांगे में ठहरते हैं ॥

क्योंकि भ्रमविध्वंसन के १७१ मा पत्र में लिखा कि व्यवहार शुद्ध अभविकुंभी साधू जान के वंदे तो पाप न लागे, तो सिद्ध हुवा कि, २ भांगे वाले को श्रावक फासुक ४ आहार दान देवे तो एकांत निर्जरा होवे, और तीसरा भंगवाले को देने में एकांत निर्जरा नहीं होवे, क्योंकि भाव साधू है, परंतु भेष अन्य दर्शनी का है तथा रूप असंयति भी नहीं है, क्योंकि भाव साधू है, और चौथे भंगवाले मिथ्यात्व भेष करके सहित और मिथ्यात्वी असंयति कुपात्र पने के अवगुण करके सहित उनको गुरु और मोक्ष का अर्थ जान करके ४ आहार देवे उसको एकांत पाप लागे, मिथ्यात्व पुष्ट होने के कारण से, परंतु मोक्ष का अर्थ नहीं जानके मांगते हुये भूखादिक को करुणाभाव से देवे तो एकांत पाप में नहीं है. क्योंकि करुणा करके देने का निषेध तीर्थङ्कर ने कदापि नहीं कहा है. ऐसा स्पष्ट भगवतीजी का अष्टम शतक उ० छट्ठे का अर्थ और टीका का लेख है सो हमने पहिले लिखा है. यासूयगडांग का ११ मा अध्ययन का मूलपाठ में भी लेख है सो आगे लिखेंगे।

पूर्वपक्ष–तुमने पहिले लिखा वह लेख तो सिद्धांत से नहीं मिलता है. क्योंकि भगवतीजी का अष्टम शतक छठा उद्देश में तो समणोपासक तथा रूप का असंयति अव्रती का दान देवे



उस में एकांत पाप कहा है. और गुरू बुद्धि से मोक्ष के वास्ते तो श्रावक असंयति अव्रती को दान देवे ही नहीं और देवे तो उसको श्रावक नहीं कहना. वह तो मिथ्यात्वी है, इस से यहां तो संसार खाते मंगता, अभ्यागत. असंयति ने देवे तिस में ही एकांत पाप है.

उत्तरपक्ष–हे भाई तुम्हारे भोलापन के आक वाक कथन में बड़ा आश्चर्य आता है कि तुम बिना विचारी तर्कना उठाते हो परंतु तुम क्या करो तुम्हारे गुरु जीतमलजी ने भ्रमविध्वंसन के २२ में पत्र में ऐसा ही कथन करा है सो लिखते हैं ( ए अन्य तीर्थीना भेष सहित असंजति ते तुमे कहो छो तो ते अन्य तीर्थी ने श्रावक नो रूप प्रत्यक्ष दिशे तेहने श्रावक साधू किम जाणे एतो साक्षात् अन्यतीर्थी ने श्रावक तो साधू जाणे नहीं अने इहां दान देवे ते श्रमणोपासक श्रावक कह्यो छे ( समणो, वासएणं, भंते ) एह वुं पाठ छै ते माटे अन्य तीर्थी ने श्रावक तो साधू जाणे नहीं वली इहां सचित्त सूजतो असूजतो देवे कह्यो तो श्रावक साधू जाणने सचित्त ने असूजतो आहार किम वेरावे. ते माटे एतो सांप्रति मिले नहीं ) इति. यह तुम्हारा गुरुजी का लेख है अब सावधान होके यथावस्थित सूत्र न्याय सुनिये. प्रथम तो इस भगवतीजी के पाठ में समुच्चय पूछने का कथन है सो अशुभ कर्म के जोर से कोई भी श्रावक तथा रूप के असंयति अव्रती कुपात्र मिथ्यात्वी को मोक्ष के अर्थ गुरु बुद्धि से प्रति लाभे उसको एकांत पाप होवे परंतु सर्व श्रावक प्रति लाभे नहीं तिसपर सूत्र श्री समवायांगजी के २१ में समवायांग में साधू को २१ सबले दोष बताये कि

यह २१ काम करने से साधू को सबला दोष लागे वह थोड़े से लिखते हैं सुनियें.

सूत्र–राइ, भोअणं, भुजमाणे, सबले, ३ अहाकम्मं, भुजमाणे, सबले, ४ आउट्टियाए, पाणाइवायं, करेमाणे, १२ आउट्टियाए, मूल, भोयणंवा, कंद, भोयणंवा, तया, भोयणंवा पवाल, भोयणंवा, पुष्फ, भोयणंवा, फल, भोयणंवा, हरिय, भोयणंवा, भुजमाणे, सबले, १८ ॥ इति ॥

अस्यार्थः–रात्रि भोजन करते थके सबलो दोष लागे. आधाकर्मी भोजन भुंजता थका सबल दोष लागे आ कोटी प्राणातिपात करता थका पृथिव्यादिक ने हणतो सबला दोष लागे. आकुटीय करी मूल भोजन, अथवा कंद भोजन अथवा त्वचाकहिये वृक्षनी छालतेहनो भोजन. अथवा प्रवाल भोजन. अथवा पुष्प भोजन अथवा फल भोजन अथवा हरीय भोजन करता थका सबलो दोष लागे ॥ इति सूत्रार्थः ॥

अब विचारना चाहिये कि यहां सूत्र पाठ में कहा कि साधू रात्रि भोजन करे तो सबले दोष लागे या आधाकर्मी आहार भोगवे तो सबलो दोष लागे. जाण के हिंसा करे पृथिव्यादिक जीव की तो सबलो दोष लागे. जाणतो थको कंद मूलादिक सचित्त कची वनस्पति खावे तो सबलो दोष लागे.

तोअब विचारना चाहिए कि साधु रात्री भोजनादिक कार्य कैसे करे और करे नहीं तो सूत्र में कैसे कहे तथा ५२ अनाचीर्ण दशमी कालिक का तीसरा अध्ययन मे कहा है वहां भी ऐसा पाठ है सूत्र ( मूलए ३१ सिंगवेरय ३२ ) कहता



साधू सचित्त मूलो ३१ सचित्त आदो ३२ खावे तो अनाचारी लागे तो साधू होके सचित्त मूला आदा कैसे खावे और सूत्र में यह बात कैसे लिखी ऐसा कोई तुम्हारे को पूछे तब तो तुमको भी उत्तर देना पड़ेगा कि साधू को मूलादिक सचित्त खावना तो नहीं परंतु कोई कर्मों के उदय से मतिभ्रष्ट पणा सूं खाय जावे तो सबलो दोष लागे पीछे आलोयणा इंडलियां सो शुद्ध होवे तो वैसे ही यहां क्योंनहीं विचारते कि श्रावक भेष सहित असंयती अव्रती को साधू जाणके प्रति लाभणा तो नहीं परंतु कर्म के उदय से परमत का आडम्बर देख के कोई भोला श्रावक अन्य दर्शनी को साधू जाण के प्रतिलाभे तो एकांत पाप मिथ्यात्व का लागे और आलोयणा से शुद्ध होवे तथा तुम्हारे गुरुजी की तर्कना है कि श्रावक साधू ने सचित्त असूजतो जाण के ४ आहार कैसे वैरावे तिसका समाधान ज़रा तो नजर लगा के देखो कि साधू खुद सचित्त कंदादिक का और को त्याग करावे ने पोते कोईक साधू जाणता थका कर्म का उदय भावसे संचित कंदादिक खाय जावे या सबलो दोष सेव लेवे है तो फिर श्रावक साधू जाणने ४ आहार कोई कर्म के उदय से गुरु बुद्धि से देवे उसमे क्या आश्चर्य है भाई तुम अपने गुरु जी को समझावो कि ऐसे सूत्र की वार्ता को जानकरके भी लोकों को भ्रमावणे वास्ते विपरीत कथन नहीं करे और भ्रम विध्वंसन में बिपरीत कथन करा है सो शुद्ध करे. और तुम लोग भ्रमविध्वंसन का प्रतिबंध यानी हठ मत करो उसकी विरुद्धता अत्यन्त है. हम कहां तक लिखें यहां तो इतनाही कहना है. कि जैसे कोईक साधू को २१ स-

बले दोष और ५२ अनाचीर्ण सेवने की रजा भगवान् की नहीं और कर्म के उदय भाव से दोष सेव लेवे तो एकांत पाप लागे वैसे ही श्रावक को गुरु बुद्धि से मोक्ष के अर्थ कुतीर्थी का भेषधारी को दान देना नहीं देवे तो एकांत पाप में समझना तथा फेर सुनियेकि सिद्धांत में कोई श्रावक पहिले तो भगवंत की आज्ञा सहित उग्र विहारी विचरे और पीछे आज्ञा बाहिर अनेक पाशत्थ विहारी जिन आज्ञा बाहर होवेतो भी उनको समणो पासक श्रावक कहे है श्रावक की प्रव्रज्या के पालनहार कहे सो सूत्रपाठ लिखते हैं सुनिये सूत्रभगवती जी का दशमा शतक उद्देश चौथे में सामहस्ती नामा अणगार ने श्री गौतम स्वामी जी से पूछा कि हे पूज्य चमरने असुरेन्द्र असुरकुमार राजा ने ताय तीसगा देवता है तब गौतम स्वामी जी कहते हुये, ॥

सूत्रपाठ —— एवं, खलु; सामहत्थी, तेणं कालेणं, तेणंसमएणं, इहेव, जंबूद्दीवेदीवे, भारहे, बासे, कायंदी, णांम, णयरी, होत्था, बणउ, तत्थणं, कायंदीए, णयरीए, तायत्तीसं, सहाया, गाहावइ, समणोवासगा, परिवसंति अट्ठा, जाव, अपरिभूया अभिगय, जीवाजीवा, उवलद्ध, पुणपावा, वणउ, जावविहरंति, तएणंते तायत्तीसं, सहाया, गाहावइ, समणोवासगा, पुव्विंउग्गा, उग्गाविहारी, सविग्गा, संविग्गाविहारी, भविता, तउपच्छा, पासत्था, पासत्थ, विहारी, उसणा उसण, विहारी, कुसीला, कुशील, विहारी, अहाच्छंदा, आहाच्छंद, विहारी, बहूइं, वासाइं, समणो, वासग, परियागं, पाउणंति, पाउणंतित्ता, मासियाए, संलेहणाए, अत्ताणं,



जूसंतिरत्ता, तीसंभताइं, अणसणए, छेदेंतिरत्ता, तस्सठाणास्स, अणालोइय, अपडिकंता, कालमासे, कालंकिच्चा, चमरस्स, असुरिदस्स, असुररणे, तायत्तीसगा, देवत्ताए, उववणा ॥ इति सूत्रपाठ ॥

अस्यार्थः- इम निश्चय हे सामहस्ती अणगार ते काल न विषे ते समय ने विषे एहीज जंबूद्वीप नामा द्वीप ने विषे काकन्दी इसे नामा नगरी हुइ तेनो वर्णन करवो. तिहां काकन्दी नगरी ने विषे तेत्रीसुमित्र साह्यना कारक कुटुम्बना नायक समणोपासक वसै छै ऋद्धिवंत पावत किणही पराभविन स किये जाएया छै.

जेणे जीव अजीव नो स्वरूप जेणे ओलख्या छै पुन्य अने पाप वर्णन करवो यावत् विचरे छै तिवारे तेत्रीस सहाय्य कारक मित्र कुटुंबना नामक समणोपासक पाहिला उत्कृष्ट भाव थकी उग्रविहारी उत्कृष्ट आचारवंत संवेगता मोक्षमार्ग प्रवृत्ते रूडो अनुष्ठान पालीने तिवारे पीछै ज्ञान दर्शन चारित्र थकी बाहिर वर्ते छै पासत्थानो ज आचार समाचारी ने विचरे छै थाकी नीयरे थाका आजन्म शिथिलाचारी कुत्सित शील माठो आचार ते ज्ञानादिक आचारना विराधवा थकी. कुशीलचारी आजन्मलगी विराधक स्वइच्छा आपणे छांदे चाले जाव जीव लगे यथा छांदेहीज एवा थकी घणा वर्ष लगे समणो पासक पर्याय पाले. पालीने पंदरेह दिननां संलेषणाए आत्माने सेवे सेवी ने, त्रीस, भक्त अण सणे करी छेदे. छेदीने तेह स्थान कने आलोया विना पडिकम्मा विनाकाल समये काल करी

ने चमर ने असुरेन्द्र ने असुर राजाने त्राय त्रिसक देव मंत्री स्वर देव पणे उपना ॥ इति सूत्रार्थः ॥

अब इस सूत्र पाठ से विचारो कि ज्ञान दर्शन से बाहिर वर्तने वाले और प्रवचन से विरुद्ध अपने छंदे चलने वाले जाव जीव शुद्धि भी आलोयना प्रायश्चित्त को नहीं लिया. तथापि उनको समणोपासक और अनेक वर्ष की श्रावक की प्रवज्या के पालने हारे कहे. तो फिर हे मित्रों तुम कहते हो कि श्रावक तो असंयति को साधू जानके नहीं देवे. देवो तो श्रावक नहीं. या तुम्हारे गुरुजी ने भ्रमविध्वंसन में लिखा कि अन्य तीर्थी ने श्रावक साधू जाणे नहीं तो फिर अन्य तीर्थी ने श्रावक साधू नहीं जाणे तो इस सूत्रपाठ में भगवान के मार्ग से उपणे वर्तने वाले को श्रावक क्यों कहे. अब कहो तुम्हारे गुरुजी का कथन सच्चा है कि श्रीमुख से भगवान का फरमाया. वह सच्चा है. हम तो त्रिलोकीनाथ का कथन ही सच्चा श्रद्धते और कहते हैं कि जैसे ज्ञान और समकित से बाह्य वर्तने वाले को भी पाठ में समणोवासग यानी श्रावक कहे हैं और ज्ञान समकित से बाह्य वर्तना तो एकांत पाप में ही है वैसे ही भेष सहित अन्य तीर्थी को गुरु बुद्धि से मोक्ष के अर्थ श्रावक प्रतिलाभे देवे तो एकांत पाप ही है. परंतु उन को भी श्रावक कहे हैं सो बुद्धिमान समझ लेवेगा. इति ।

पूर्वपक्ष-भगवतीजी का शतक दशमा उद्देश चौथा में तो तीस श्रावक विराधिक पासत्थे का अधिकार है. परंतु शतक अष्टमा उद्देश छठा में तो विराधिक श्रावक का कथन नहीं करा है ।



उत्तरपक्ष-अरे मित्र सूत्र में तो दोनों जगे विराधिक पणे का ही कथन है. क्योंकि भगवती शतक दशमा उद्देश चौथा में ज्ञान समकित से पासत्थे होने से विराधिक एकांत पाप का कार्य है. वैसे ही भगवती शतक अष्टम उद्देश छठा में तथा रूप के यानी भेष सहित कुपात्र अन्य तीर्थी को मोक्ष अर्थे गुरु बुद्धि से दान देने से एकांत पाप कहा है सो प्रकट समकित ज्ञान का पासित्थापना है और नहीं आलोवे तो विराधिक पणा भी है सो टीका में स्पष्ट लिखा है ।

टीका-( यश्य सूत्र त्रेयणापि चानेन मोक्षार्थे मेवयद्दानं तच्चिंतितमिति )

अर्थ-इन तीनों सूत्रों करके मोक्ष के अर्थ जो दान देना तिनको चिंतना करी गई ॥ इति टीकार्थः ॥

अब विचारो कि टीकाकारजी तो साफ लिखते हैं कि इन तीनों सूत्र में यानी समणोपासक तथा रूप के श्रमण महान कुं फासुक सूजता आहार प्रति लाभे उसमें एकांत निर्जरा कही. और वैसे ही तथा रूप के समण महान को अफासुक अनेषणिक ४ आहार प्रतिलाभे उसमें अल्प पाप और बहुत निर्जरा कही है. और वैसे ही तथा रूप के असंयति अव्रती मिथ्यात्वी को प्रतिलाभे उसमें एकांत पाप कहा इन तीनों सूत्रों में मोक्ष के अर्थ दान देने की चिंता यानी घटना करणी. अब विचारो कि श्रावक अन्य तीर्थी कुपात्र को मोक्ष अर्थे दान देवे तो प्रत्यक्ष मिथ्यात्व भोग है. उसमें एकांत पाप कहा है. और टीका में खुलासा करते हैं कि मोक्ष के अर्थ देवे उसका कथन है. परंतु करुणा करके देवे उसका

कथन यहां नहीं है. ऐसा टीका में भी कहा है. ( यत्पुनरनुकंपादानमौचित्य दानं वा तन्न चिंतितं ) अनुकंपादान और उचित दान देन का यहां चिंता नहीं करी यानी अनकंपादान और उचित दान देने का यहां कथन नहीं है. इति।

यथा करुणा करके देने का तीर्थंकर ने कहांपि निषेध नहीं करा. ऐसा टीका में गाथा कही. और और अर्थ में भी कहा है ( मोरकत्थं, जंदाणं, तंपइएसो, विहिसमरकाउ, अणुकंपा, दाणं, पुण, जिणेहिन, कयावि, पडिसिद्धंति. ) ॥१॥ इसका अर्थ पहिले लिख चुके हैं.

अब विचारो कि इस गाथा में खुलासाअर्थ है कि मोक्ष के अर्थ कुपात्र मिथ्यात्वी को देने में एकांत पाप की विधी कही है परंतु अनुकंपा करके दान देने का तीर्थंकर ने कदापि निषेध नहीं करा है अब पक्षपात छोड़ के विचारो कि तुम्हारा उत्तर प्रश्नोत्तर में लिखा सो सिद्धांत टीका टबा से विरूद्ध है कि नहीं है मित्र ऐसे बिना विचारे गुरु जी का सिखलाया गोलमाल उत्तर सिद्धांत से विरुद्ध लिखने छपवाने की कार्वाई मत करो क्योंकि यह महा पाप है इससे हम तुम्हारे हितार्थ के लिये कहते हैं आगे तुम्हारी समझ होवेगी सो काम आवेगी परंतु सत्य सुनने से राग द्वेष नहीं करना.

पूर्वपक्ष—हमतो टीका की बात नहीं जानते है मूल सूत्र में होवे सो मंजूर करते हैं.

उत्तरपक्ष-अरे भाई जरा अपने गुरु जी का रचा हुआ भ्रम विध्वंसन को तो देखो कि बहुत जगह टीका दीपिका अवचूरिका की साक्षी क्यों लिखी है अगर मूलपाठ ही मंजूर



था तो टीकादिकों का कथन क्या लोकों को भ्रम पाड़ने के वास्ते करा है या भ्रम विध्वंसन के ८२ मा पत्र पै भगवंत ने गोशाला जी को सराग से ग्रहण करने की कल्पना सिद्धि करने के लिये झट पट टीका की साक्षी क्यों लिख दी क्यों कि मूलपाठ में तो सरागपने का कथन ही नहीं है फिरपाठ बिना टीका मंजूर तुमने क्यों करली और फिर टीका लिखके भी विरुद्ध और अधूरा अर्थ लिख दिया. तिसका खुलासा हमने प्रथम प्रश्न में कर दिया है और टीका अर्थ भी जैसा है वैसा लिख दिया है. तो हे मित्रो अपने मत को सिद्ध करने के वास्ते तो टीका का विपरीत अर्थ करके साक्षी दे देनी और दूसरा कोई सत्य अर्थ करके टीका की साक्षी देवे तो बदल जाना कि हमतो टीका नहीं मानते हैं अगर ऐसी हट करोगे तो विद्वानों की गणना में न गिने जाओगे और जैनी तो समझेगे ही परंतु कोई विद्वान तीसरा मतका मध्यस्थ भी यह तुम्हारी बात विचारेगा तो तुमको सत्य वादी नही गिनेगा और यह टीका तो सूत्र के अनुसार ही है और अगर यहां इस टीका के अनुसार अर्थ नहीं करोगे तो बहुत सिद्धांत के पाठ का उल्लंघन यानी उत्थापन हो जावेगा सो थोड़ा सा लिख के बताते है. सूत्र सूयगडांग जी के अध्ययन ११ मा में १७ मी गाथा में स्पष्ट लिखा है कि सावद्य दान की निषेधना या स्थापना नहीं करनी सो सूत्र गाथा लिखते हैं सुनिये.

सूत्र—तहागिरं, समारम्भ, अत्थि, पुन्नंति, णोवए, ! अहवा, णात्थि, पुन्नंति, एवमेयं, महप्पभयं, ॥ १७ ॥ इति

गाथार्थः ।। हवे ए स्वरूप विशेष दीपावे छै अहो मुनीश्वर आ अमारे अनुष्ठाने पुण्य छै किंवा नथी एम पुंछयां थका ( तहा के० ) ते साधू ( गिरं समारभ्भ के० ) एवी वाणी कहे के आ समारंभ करवामा ( अत्थि पुन्नंति णोवए के० ) पुण्य छै एम पण मुखथकी कहे नहीं ( अहवा के० ) अथवा ( णत्थि, पुणंति, के० ) एमा पुण्य नथी एम पण मुख थकी कहे नहीं ( एवमेयं, महब्भयं, के०' ) एम एवेन प्रकार ने दोष ना हेतु, तथा महा भय ना कारण जाणीने एवी भाषा ने बोले, ।। १७ ।। इति सूत्र गाथार्थः ।।

अब विचारना चाहिये कि यहां सिद्धांत में स्पष्ट लिखा कि कोई गृहस्थ आके पूछे कि हे महाराज हमारे पानी की पौ मंडाने में दानशालादिक अनुष्ठान में पुन्य है कि नहीं. तो पुन्य है या नहीं है. ऐसा साधू कुछ भी नहीं कहे. और कहे तो दोष रूप महा भय का कारण हारा होवे. और तुम करुणा करके देने में एकांत पाप कहते हो इससे तुम्हारी श्रद्धा सिद्धांत से विरुद्ध है. क्योंकि सिद्धांत में पुन्य नहीं ऐसा कहे तो महाभयंकर शब्द कहा है, या तुमने लिखा कि सूयगडांग के ११ मे अध्ययन की २० मी गाथा में कहा कि गृहस्थी को दान देवे उसकी प्रशंसा करे तो छ काय की हिंसा होय. यह भी तुमने गोलमाल भ्रमरूप लिखा है. क्योंकि सूत्र में तो प्रशंसा भी नहीं करणी और निषेध भी नहीं करना. यानी भिखारी मंगते को देने में पुन्य नहीं है ऐसा भी नहीं कहना और पुन्य है ऐसा भी नहीं कहना. और तुमने आदि गाथा का अनुमोदना. नहीं तो लिख दिया. और उसी गाथा के



पिछले दो पद में दान देने का निषेध यानी अनुकंपा करके दुखी भूखा को दान देने में पुन्य नहीं है तो उस पाप कहने वाले को भी पापी और वृत्ति छेदन का करने वाला कहिये. उस अर्थ को तुमने छोड दिया. और एकांत पाप कहने लग गए. ऐसे सूत्र की आधी गाथा तो माननी और आधी को छोड़ के भ्रमरूप उत्तर देना बुद्धिमान का काम नहीं. परंतु जिसको परलोक का भय नहीं होवे. वह तो अपने मतपक्ष सिद्ध करने के वास्ते सूत्र का नाम ले के विपरीत लेख लिखता नहीं डरे अब हम उसी वीसवीं गाथा को सपूर्ण लिख दिखाते हैं सो सुनिये ।।

सूत्र गाथा—जेय दाणं पसंसंति वह मिच्छंति पाणिणं जेयणं पडिसेहंति. वित्तिच्छेयंकरंतिते. इति.

अथ सूत्रगाथार्थः-( जयदानं. पसं, संति, के० ) ते माटे जे कोई पारमार्थ नो आजाणयति दाननी प्रशंसा करते ( वह मिच्छंति, पाणिणं; के० ) ते प्राणी नावधनी इच्छा करे छै ( जेयणं, पडिसेहंति, के० ) अने जे यति दान आपवानो निषेध करे ( वित्तिच्छेयं, करंतिते, के० ) तो ते यति अनेक जीवोनी आजीविकानो छेद करे छै ।। २० ।। इति गाथार्थ ।

अब विचारो कि सिद्धांत में तो यह कथन है कि जो कोई साधू सावद्यदान की प्रशंसा करे तो प्राणी की हिंसा अनुमोदने वाला कहिये. और जो कोई दान देने का निषेध करे तो वृत्ति का छेदने वाला अंतराय देने वाला कहिये तो परमेश्वर की तो मौन रखने की आज्ञा है कि सावद्यदान में हां नां कछ भी नहीं कहना. पुन्य है ऐसा भी नहीं कहना पुन्य

नहीं है ऐसा भी नहीं कहना. यह भी इसी सिद्धांत में २१ मी गाथा में है तो सावधान हो के सुनिये.

सूत्रगाथा-दुहउवि, त्ते, णभासंति, अत्थिवा, नत्थिवा, पुणो. आंप, रयस्से, हेचाणं, निव्वाणं, पाउणंतिते, इति सूत्र गाथा. ॥

अथ गाथार्थः-( अत्थिवा, नत्थिवा, के० ) अस्ति वा नास्ति एम न कहे. एटले पुन्य छे किंवा पुन्य नथी एवी. ( दुह उवि के० ) बन्ने प्रकार नी वाणी ने ( पुणो, के० ) वली ( तेणभासंति के० ) ते साधु भाषे नहीं एम के थकी ( रयस्य , के० ) कर्म रूपरजतेनो ( आयं, के ) लाभ ते ने (हित्वा, के ) जाणीने तेवी वाणीने उचार करवानो त्याग करे ( निव्वाणं, पाउणंतिते, के० ) जे साधू निर्वाण प्रेत पामे एटले अनवद्य भाषक एवो साधू संसार रहित थाय॥ इति

अब देखलो कि सिद्धांत में तो सावद्यदान में पुन्य नहीं या पुन्य कहना कर्म बंधन का कारण है. और तुम मंगता भिखारी को देने में एकांत पाप कहके सूत्र का नाम क्यों लेते हो. सूत्र में तो पुन्य नहीं है ऐसा भी नहीं कहना कहा है तो फिर तुम एकांत पाप कहके जिनाज्ञा को उलंघ के मिथ्या प्ररूपण क्यों करते हो.

पूर्वपक्ष- यह वर्तमान काले कोई दातार मंगतादिकों को देता होवे जद मौन राखणी देता ने वर्जनो नहीं, पण उपदेश में एकांत पाप बतावे तो कांहीं दोष नहीं.

उत्तरपक्ष- हे मित्रों ऐसा सिद्धांत का विरुद्ध अर्थ क्यों करते हो परंतु तुम क्या करो तुम्हारे भ्रमविध्वंसन का ग्रंथ



का प्रताप है क्योंकि भ्रमविध्वंसन के २८ मा पत्र में वृत्ति छेद का अर्थ उलटा कराहै. सो दिखाते हैं ( वृत्तिच्छेदं,करंतिते ) ( वि के० ) वृत्तिछेद वर्तमान काले पामवानो उपाय तेहनो नो विघ्न करे ते अविवेकी. इति. यह अर्थ तुम्हारे गुरू जीतमल जी ने भ्रमविध्वंसन में वर्तमान काले पामवानो उपाय. यह अक्षर मनके मते बनाए मालुम देते हैं. तिस कारण से विपरीत है. क्योंकि नहीं तो यह पाठ से मिलता है और पारसचंद्र सूरिजी कृत टबे में है टबा मैं तो ऐसी व्याख्या है कि ( वित्तिछेयं, करंतिते, के० ) तो ते यति अनेक जीवोंनी आजीवका नो छेद करे छै यह अर्थ बहुत पड़तों से मिला के लिखा है. या बंबई के छापे का सूयगडांगजी भीमसी माणक ने बहुत शुद्ध करके छपवाया है उस में भी यही अक्षर है अब बड़ा आश्चर्य आता है कि मत की रूढ़ के लिये मन माना नवीन झूंटा ही अर्थ भोलों को भ्रम में डालने को रच लेते हैं तो परमेश्वर के बचनों का डर नहीं तो तिसका क्या करिये, तथा भ्रमविध्वंसन के २६ मा पत्र के पृष्ट में लिखा कि ( अने वर्तमान काले निषेध्या वृत्ति छेद कही. पिण उपदेष में वृत्ति छेद नहीं. दान देवे ते लेवे छे. ते वेला निषेध्यां वृत्ति छेद हुवे ) इति भ्रमः ॥

अब बडा आश्चर्य आता है कि वर्तमान काल का नहीं तो पाठ में नाम है नहीं अर्थ में है तो फिर तेरे पंथियों के पूज्यजी ने वर्तमान काल की मिथ्या कल्पना क्यों करी.

पूर्वपक्ष-टीका में वर्तमान काल का पाठ लिखा है

उत्तरपक्ष-हे मित्र टीका में तो नहीं लिखा परंतु तुम्हारे

गुरुजी ने टीका का अशुद्ध अर्थ लिख के भ्रम रचा है सो टीका दीपिका दोनों लिख के बताते हैं

टीका: ( प्राणिनां वृत्तिछेदं वर्तनो पाय विघ्न कुर्बतीति )

टीकार्थः जीवां की वृत्ति आजीविका का छेद आजीविका का उपाय का विघ्न न करे ॥ इति ॥

अब विचारो कि टीका में तो वर्तमान काल का कथन नहीं है परंतु तुम्हारे गुरुजी ने वर्तन शब्द का अर्थ वर्तमान काल ऐसा अपनी कल्पना से किया है सो एकांत विपरीत है क्योंकि तुम्हारे गुरुजी से दीपिका के कर्ता संस्कृत में प्रवीण थे और टीका के अत्यन्त मानने वाले थे और टीका से विपरीत अर्थ कहां भी नहीं करा है केवल ज्यादा संस्कृत पढ़ा न होवे उसके लिये सरलता के वास्ते दीपिका बनाई है उसमें भी वर्तमान काल का अर्थ नहीं है सो दीपिका लिखते हैं ( प्राणिनां वृत्तिच्छेदं आजीविका विघ्नं कुर्वतीति ) अर्थ प्राणी जीवां की वृत्ति यानी आजीविका का छेद यानी विघ्न करे इति दीपिकार्थः ॥

अब विचारो कि टीका दीपिका का एक सा ही अर्थ है केवल टीकाकार जी ने तो वर्तन शब्द से आजीविका का अर्थ लिखा है और दीपिकाकार जी ने आजीविका का ऐसा सरल अर्थ ही लिखा है क्योंकि संस्कृत में आजीविका शब्द के दोनों पर्यायवाची शब्द है परंतु आजीविका शब्द सरल है इससे दीपिकाकार जी ने सरल लिखा है परंतु तुम्हारे गुरुजी सरीसा विरुद्ध अर्थ वर्तमान काल ऐसा तो किसी ने नहीं करा है और वर्तमानकाल अर्थ करने से सिद्धांत को भी



ठेप यानी धक्का लगता है क्योंकि सिद्धांत में तो कोई प्रश्न पूछै उसका उत्तर देने की विधि बतलाई है परंतु कोई देता होवे उसका निषेध नहीं करना ऐसा नहीं लिखा है एतो तुम्हारे गुरु जी की कपोल कल्पना है सो तुम्हारे सरीसे अल्पज्ञ ही मानते हैं परंतु विद्वान निरपेक्ष तो कभी नहीं मानते हैं.

पूर्वपक्ष-दान शालादिक दान का प्रश्न पूछे उस वक्त पुन्य पाप नहीं कहना ऐसा सिद्धांत में कहां कहा है.

उत्तरपक्ष-तुमने नहीं सुना होवे तो सुनो और विपरीत धारा होय तो शुद्ध धारो हम लिख के प्रकट करते हैं कि इसी सूयगडांग के ११ मां अध्ययन की १६ मी और १७ मी गाथा में जहां दान शालादिक दान के प्रश्न है वह ही लिखते हैं सो ध्यान लगा कर सुनिये.

सूत्र गाथा-हणंतं, णाणु, जाणेभ्फा, आयगुत्ते, जिइंदिरा ठाणाइं संति, सड्ढीणं, गामेसु, नगरेसुवा, ॥ १६ ॥ तहागिरं, समारम्भ, अत्थि, पुन्नंति, णोवए, ॥ अहवा, णत्थि, पुन्नंति, एवमेयं, महब्भयं ॥ १७ ॥ इति

गाथार्थः—( ठाणाइं संति, सड्ढीणं, के० ) श्रद्धावंत ना स्थान, श्रद्धावंत, धर्मवंतना आश्रय ( गामेसु, नगरे सुवा. के० ) एवा ग्राम ने विषे अथवा नगर ने विषे साधु रह्या छै त्यानो आश्रीत कोई एक कूप खनन सत्रु कारकादिक नो करावनार एवो पुरुष साधू ने पूछै जे एवामां धर्म छै किंवा न थी एव पूछ्या थकां ( आयगुत्ते, जिइंदिये. के० ) आत्म गुप्त तथा जितेन्द्रिय एवो साधु ( हणंत, णाणु, जाणेभ्फा, के० ) आ-

रंभे करी प्राणी हणाता होय तेवा कार्य ने अनुमोदे नहीं जे एतु रुडु काम करे छै राम कहे नहीं ॥ १६ ॥ हवे ए स्वरूप विशेष दीपावे छै अहो मुनीश्वर आ अमारे अनुष्ठाने पुन्य छै किंवा न थी एम पुछ्या थका ( तहा के० ) ते साधु ( गिरं समारम्भ के० ) एवी वाणी कहे के आसमारंभ करवामा ( अत्थि पुन्नंति के० ) एमा पुण्य न थी एम पण मुख थकी कहे नहीं ( एवमेयं, महब्भयं के० ) एम एने प्रकार ने दोषना हेतु तथा महा भय ना कारण जाणी ने एवी भाषा न बोलो ॥ १७ ॥ इति गाथार्थ : ??

अब विचारना चाहिये कि सूत्र में खुलासा लिख दिया कि कोई ग्राम नगर में किसी श्रद्धावंत के स्थान पर रहे साधू को कोई श्रद्धावंत पूछे कि मेरे पानी के दान अर्थ कूप खुदवाना और अन्नादि के दान अर्थ दानशाला करानी है इसमें पुन्य होवे कि पुन्य नहीं तब मुनि पुन्य और पुन्य नहीं दोनो न कहे कहे तो महा भयंकर पाप का कारण है अब विचारो कि गुरुजी का बचन है कि देने वाला देवे और लेने वाला लेवे उस वक्त वर्तमान काल में निषेध नहीं करना यह तुम्हारे गुरु जी का लेख सिद्धांत से विरुद्ध है कि नहीं जरापक्ष छोड़ के विचारो कि सूत्र में तो कोई प्रश्न पूछै उसवक्त मौन रक्खे और तुम कहते हो कि देती वक्त मौन रक्खे और प्रश्न पूछे तो एकांत पाप बतावे ऐसा तुम्हारी श्रद्धा तो सूत्र से नहीं मिलै देखो तुम्हारे गुरु जी की श्रद्धा है कि देने वाला देवे और लेने वाला लेवै उसवक्त निषेध नहीं करना फिर यह बात कैसे मिले क्योंकि कूप खनने का प्रश्न में भी शास्त्र में मौन



रखना कहा परंतु एकांत पाप नहीं कहा, तो कहो कूप को कैसे देवे, एतो जब मिले कि पानी का प्यासा पानी मांगे तब देने वाला कहे कि ठहरजा, कुवा खोदके पानी पिलाऊं, तिस वक्त साधु को मौन राखनी, तो यह बात होती है.

पूर्व पक्ष—यह बात तो नहीं होती क्योंकि कूप खोदके पानी पिलाना यह बात बिलकुल असंभव है.

उत्तरपक्ष-तो वैसे ही तुम्हारे गुरुजी का वर्तमान काल का अर्थ करना असंभव है. क्योंकि कुवा खोदने का प्रश्न शास्त्र में है. इससे तुम्हारी श्रद्धा सूत्र से नहीं मिलै. क्योंकि एकांत पाप कहे उसको महाभयंकर दोष लगता है तो फिर एकांत पाप को प्ररूपे, लिखे, छपावे उनका तो क्या होगा. अब ऐसी श्रद्धा कहांतक कथन करें अब मध्यस्थ होवो तो विचार लेवो कि दान की अंतराय तीनों काल में नहीं करना, परंतु एक वर्तमान काल का अर्थ सूत्र अर्थ टीका दीपिकादिक सर्व से विरुद्ध है सिद्धांत की आस्ता होवे तो समझ लेवो. अब कोई भद्रिक प्रश्न करे कि सूत्र भगवतीजी का ८ मा शतक का छठा उद्देश में तो तथा रूप के असंयति अव्रति को प्रतिलाभ ने का पाप कहा और सूयगडांग के ११ में अध्ययन में कूप खोदनादिक सावद्यदान में पुन्य नहीं है ऐसा कहे तो उसको महा भयंकर कर्म बंध का कारण कहा, यह सूत्र की परस्पर सूत्र से विरुद्धता हुई तिसका क्या समाधान है तिसका उत्तर. हे भाई इसीसे हम कहते हैं कि भगवतीजी में एकांत पाप भेष सहित मिथ्यात्वी का गुर्वादि महंत को गुरु समझ के मोक्ष के अर्थ दान देवे उसको एकांत पाप कहा, क्योंकि

ऐसे मिथ्यात्व के महंत को अन्नादिक से प्रतिलाभने से मिथ्यात्व पुष्ट होता है जिससे मिथ्यात्वादिक पाप लगते हैं. परंतु अनुकंपा करके गरीबादिकन को देने में एकांत पाप नहीं इसी हेतु से ही इस भगवती जी सूत्र का पाठ का अर्थ में भी लिखा है कि मोक्ष के अर्थ गुरु बुद्धि से मिथ्यात्व के महंत को प्रतिलाभे उसको पाप लगे परंतु अनुकंपा दान और उचित दान का निषेध तीर्थंकर ने कहां भी नहीं किया है ऐसा साफ अर्थ में लिखा है तथा इसी सूत्र की टीका जो अभयदेव सूरी जी ने संवत् ११ से के लगभग रची है उसमें भी ऊपर माफिक लिखा है सो हमने टीका ऊपर लिख दी है टीका टबा में एक सरीसा ही कथन है और वही सूत्र के पाठ से मिलता है इससे भगवती जी में एकांत पाप कहा सो मिथ्यात्व के महंत को मोक्ष के अर्थ देवे तो पाप लगे और अनुकंपा का निषेध नहीं और सूयगडांग में सावद्यदान पाणी अर्थे कूप खनन भोजन अर्थेसत्रुकार दानशालादिक कार्य में साधु को पाप नहीं कहना, क्योंकि अनुकंपा दान तीर्थंकर ने निषेध करना वर्जित किया है और सावद्यदान में पुन्य है ऐसा भी नहीं कहना. क्योंकि कूप खनन में जीव हिंसादिक होवे, उसकी अनुमोदना लागे इस हेतु से बस ऐसे सूत्रों के सापेक्ष वचन है तिसमें सूयगडांग और भगवतीजी का कथन की परस्पर विरुद्धता नहीं है. हां अलबत्ता सूत्र भगवती जी का अर्थ ६-१० वर्ष की प्राचीन टीका को छोड के मन माना नवीन अर्थ सूत्र से विरुद्ध करके कहे कि साधु के सिवाय सर्व को देने में पाप है तिसकी श्रद्धा से सूयगडांग का पाठ उत्थप जावेगा या



इस सिवाय प्रश्न व्याकरण के पाठ को भी उत्थापनहारे ठहरेगा. क्योंकि प्रश्न व्याकरण के दूसरे आश्वरद्वार में दान को निषेधे उसको झूठ बोलने वाला कहा है सो सूत्रपाठ सुनिये सूत्र-वित्तिच्छेयं, करह, मादेह, किंचिदाणं. ॥ इति ॥

अस्यार्थः- ( वित्तिच्छेयं, करह, के० ) भिक्षाचरादिक वृत्ति नो छेद करो मादेह, किंचिदाणं, के०' ) मा देस्यो कांइ पिण दान ॥ इतिसूत्रार्थः-

अब विचारो कि भाइ सूत्र में तो साफ लिखा कि वृत्ति का छेद करे. या दान देने का निषेध करे. उसको झूठ बोलने वाला कहा. जो दान देने में एकांत पाप बतावे जो सूत्र के प्रमाण से झूठ बोलने वाले की पंक्ति में गिने जावेंगे परंतु सत्यवादी नहीं.

पूर्वपक्ष-इस पाठ का अर्थ हमारे गुरुजी ऐसे करते हैं कि वृत्ति छेदना तो उसको कहते हैं कि देना वाला देवे और लेने वाला लेवे उस वक्त में कोई देने वाले को मना करे तो झूंठ बोलने वाला कहिये. और दान का अर्थ ऐसे करते हैं कि साधु को दान देने का निषेध करे उसको झूंठा बोला कहिये परंतु साधु सिवाय दूसरे को दान देने में पाप कहे तो दोष नहीं ऐसा कहते हैं.

उत्तरपक्ष-हे भाई ये दोनों अर्थ स्वकपोलकल्पित सूत्र से विरुद्ध है सो वर्त्तमान का कहना विपरीत है. सो तो हमने सिद्धांत पाठ अर्थ टीका दीपिका से पहिले अच्छी तरह से सिद्ध किया है. और साधु को दान देने का निषेध करने में झूंठ लागे अन्य को निषेध करने में नहीं. उसका निर्णय

एकाग्र चित्त करके सुनिये. हे भाई! यहां सूत्र में तो किंचित् मात्र दान को यानी थोड़ा भी दान निषेधे उसको झूंठा बोला कहा. परंतु सुपात्र साधु को दान देने का निषेध करे, उसको झूंठा बोला कहिये ऐसा कथन तो सूत्र मे हैही नहीं तो ऊटपटांग अर्थ क्यों करते हो.

पूर्वपत्त-जब सुपात्र को दान देने का निषेध करे उसको झूंठा बोला कहिये ऐसा न्यारा पाठ कहां है.

उत्तरपत्त-हे भाई न्यारा पाठ इसी दूसरे आश्रवद्वार में पहिले आचुका है सो लिखते हैं सूत्र पाठ सुनिये।

सूत्र एवं, झंपंति, मुसावादि, तम्हा, दाणं, व्वय, पोसहाणं,तव, संजम, बंभचेर, कलाण, मादियाणं, नत्थि, फलं इतिः-

अस्यार्थः-एम कहे सो मृषावादी।

अब बिचारो कि इस मूल पाठ में प्रकट देख लेवो कि मुक्ति के अर्थ दान, शील, तप, पोषा, संयम, ब्रह्मचर्यादिक कल्याणकारी, स्वर्ग मोत्त की क्रिया को फल नहीं, ऐसा कहे उस को मृषावादी कहिये. यह पेश्तर मुक्ति के अर्थ परलोक साधन की क्रिया का कथन कहकर फिर बहुत सा कथन दूसरा कहके आगे को यह पाठ है विच्छिेयं, करइ, मादेह, किंचिदाणं,) यह पाठ अलग चला है कि भिखारीदिक नी वृत्ति नो छेद करो मा देस्यो कांइ पिण दान. ऐसा कहे वह झूंठाबोला है. यह कथन न्यारा है. तो अब भ्रम को छोड के समझ लेवो कि साधु को मुक्ति खातर दान देणा निषेधे तो उसको भी झूंठाबोला मृषावादी कहिये. और मगता भिखारी को देने का



निषेध करे तो उसको भी मृषावादी झुंठाबोला कहिये. यह सूत्र में प्रकट खुलासा पाठ है तो फिर मंगता भिखारी को देने में एकांत पाप कहने वाले की श्रद्धा से यह पाठ प्रश्न व्याकरण का उत्थप जायगा.

पूर्वपत्त-हमारे गुरुजी कहते हैं कि मंगता भिखारी को देता देख के निषेध नहीं करना. परंतु आगम्य काल में पाप बतावे तो दोष नहीं. इसको पुष्ट करने के वास्ते. भ्रम विध्वंसन के पत्र २९ वें में सूयगडांग का दूसरा स्कंध के पंचमाध्ययन की ३३ मी गाथा की साक्षी देते हैं कि ( दक्षिणाय, पडिलंभा, अथिवा, नत्थिवा, पुणो, ) इस पाठ से कहते हैं कि गृहस्थ देणहारदेवे और लेणहार लेवे उसवक्त पुन्य है अथवा पाप है. ऐसा नहीं कहना चाहिये. इति ॥

उत्तर पत्त- हे भाई यह इस सूत्र का पाठ भी तुम्हारी श्रद्धा को बाधित करने वाला है. क्योंकि इस सूत्र के पाठ में भी मौन राखणा कहा परंतु आगम्य आसरी दान देने का एकांत पाप कहना या मंगता भिखारी आदिक को दान देने काल त्याग करने में दोष नहीं, ऐसा नहीं कहा है, इससे यहां भी तुम्हारी श्रद्धा अटकी, परंतु सिद्ध नहीं हुई. और सूत्रों का तो सापेक्ष कथन है. कोई ठिकाने वर्तमान काल का कथन है, कोई ठिकाने तीनों काल का कथन है. तिस में वर्तमान का एक जगे के अर्थ का तो ग्रहण करलेना और दूसरे जगे तीनों काल में दान को नहीं निषेध करने का कहा उसको नहीं मानना बुद्धिमान् निर्पक्ष जैनधर्मी का नहीं है.

पूर्वपत्त-हमारे गुरूजी भी पाप पुन्य का हिसाब यानी

लेख बताते हैं, परंतु गरीब को दान देने का त्याग कहां कराते हैं.

उत्तर पक्ष-हे भाई यह बात तो प्रसिद्ध है कि तुम्हारे गुरुजी त्याग कराते हैं परंतु तुम्हारे जैसे भोले भाई इस बात को छिपाना चाहते हैं सो छिप नहीं सकती. क्योंकि यह बातें तुम्हारी पुस्तकों में छप गई सो हम लिखा दिखाते हैं. देव गुरू धर्म की ओलखण नामा पुस्तक नं २ में १२ व्रत की १२ मी ढाल की ४२ मी गाथा यथा.

( इबरत में दान देवण तणो कोई त्याग करे मन शुद्ध जीतणरो पाप निरंतर टालियो तिणरी बीर बखाणी बुद्धजी ) इति गाथा गाथार्थः इस व्रत में अर्थात् साधु के सिवाय मंगता भिखारी आदिक को दान देवण का त्याग करे तो निरंतर पाप टले और भगवान उसकी बुद्धि बखाणी. इति गाथार्थः

यह जोड़ तुम्हारे भीषम जी कृत है. अब विचारो कि तुम्हारे गुरूजी का निषेध उपदेश एक तुम्हारे साधु के सिवाय मंगता भिखारी आदिक को सर्व को दान देने का त्याग कराने का है कि नहीं, प्रत्यक्ष बात छिप नहीं सकती है और बीर बखाणीं बुद्ध ऐसा भगवान् का नाम दाननिषेध में बताना वृथा है. क्योंकि भगवंत ने तो सिद्धांत उपासक दशा में या आवश्यक में श्रावक के १२ व्रत के अतिचार वर्जन करने फरमाये हैं वो पाहिले व्रत के ५ अतिचार टालना कहा सो सुनिये.

सूत्र-थूलयस्स, पाणाइवाय, वेरमणस्स, समणोवासएणं, पंच, अइयारा जाणियव्वा, नसमायरियव्वा, तंजहा,



वह बंध च्छविच्छेए, अइभारे, भत्तपाणवोच्छेए, ॥ इति ॥

अब देखो श्रावक को पाहिले व्रत के पंच अतिचार वर्जन करने तिसके पंच में अतिचार में कहा कि ( भत्तपाण, वोच्छेए ) अब विचारना चाहिये कि श्री भगवान् ने तो आनंदादिक सर्व श्रावक को यह पंच अतिचार नहीं आदरणे लायक कहे हैं और आदरे तो उस श्रावक को दोष लागे. इस पचमें अतिचार में भगवंत ने प्रगट फरमाया कि प्राणी जीव का भात पाणि यानी खान पान का विरोध नहीं करना करे तो व्रत में दूषण लागे तथा टीका में भी साफ खुलासा है.

टीका ( भत्तपाणवोच्छे एत्ति अशन पानि या प्रदान ) इति टीकार्थ-ःभत्तपान का छेद उसको कहते हैं कि पशु आदिक को भोजन नहीं देना. इति. अब बिचार करना चाहिये. कि टीका में भी साफ लिखा कि प्राणी जीव पशु आदिक को भात पाणी नहीं देवे तो अतिचार लागे. तो हे मित्रों! तुम्हारे गुरुजी कहते हैं कि साधु के सिवाय दूसरे को देने के त्याग करे तो ( उसकी बीर बखाणी बुद्ध ) त्याग करने वाले श्रावक की भगवान् ने बुद्धि बखाणी. और श्रीभगवान ने तो श्रावक को सूत्र में उपदेश दिया कि पशु आदिक को भात पाणी नहीं देवे तो ब्रत में अतिचार यानी दूषण लागे. तो कहो भाई श्रीभगवान् के वचन को सत्य श्रद्धना चाहिये कि तुम्हारे गुरु भीषमजी की कपोल कल्पना को. हे मित्रों हमतो परमेश्वर के बचनों को ही सत्य मानते हैं और तुमको भी हित से कहते है कि हे देवानुप्रियाओं तुमभी विचार करो.कि कि श्रीभगवान्ने तो श्रावक को अतिचार दिखलाये तिसमें

कहा कि भात पाणी पशु आदिक को नहीं देवतो भी पापलागे, तो जो देने का त्याग करावे उसको क्या होता है सो बुद्धि बलसे बुद्धिमान् विचार लेवो, और यहभी ख्याल-करो कि सूत्रमें कहा कि वृत्तोछेदकरो भिखारियोंको कहीं भी दान मत देवो, ऐसा कहा उसको भी झूठ बोलने वाला कहा. तो फिर साधु के सिवाय और कू दान देनेका त्याग करावे और त्याग कराने में धर्मश्रधे तो उन गरीबों को दान देनेका त्याग कराने वाले की श्रद्धा भी कैसे रही और श्रद्धा विना संयम भी नहीं रहा, तथा जो श्रावक के दान देने के त्यागमें धर्म मानते हैं तो उसकी भी श्रद्धा सिद्धांत से उलटी होने से समकित् पणा श्रावकपणा कदापी नहीं रहा, इसवास्ते हम हित सें कहते है कि तुम सिद्धांत के वचनों को विचार के शुद्धाश्रद्ध धारन करो यहीं आत्मा सुधारने का धर्म है और इतनी वार्ता तो एक थोड़ा सा आवश्यक सूत्रको जानने वाला भी श्रावक समझता है कि जो श्रावक पशु आदिक को भात पाणी नहीं देवें तो पहिला व्रतमें अतिचार लगे है. और तुह्मारे तेरे पंथियों की पुस्तक में भी पहिले व्रत के पंच में अतिचार में लिखा है यथा ( भात पाणी ना विच्छेद कीधा होय तस्स-मिच्छामिदुकड़ं ) पुस्तक नं २ पृष्ट २०८

यह देखो कि तुम तेरे पंथी श्रावकलोग भात पाणी पशु आदिक को नहीं दिया हो तिस पापका मिच्छामिदुकड़ं भी लेते हो और फिर पशु आदिक को भात पाणी देनेका त्याग करने में धर्म भी मानते हो. यह परस्पर श्रद्धा तुह्मारी तुह्मारा ही लेख से विरुद्ध होती है. अब भी विचार करके समझ लेवो तथा तुह्मारा यह लिखना है.



कि सूत्र नसीथ जी के १५ वें उद्देशा में बोल ७४ तथा ७५ वें में कहा कि गृहस्थ "असण, पाण, खादिम, सादिम, वत्थ, पडिग्गह, कम्मल, पाय पुच्छेण, यह आठ बोल कहे सो देवे दिवावे, देतेहुए को भला समझे तो चौमासो प्रायश्चित्त आवे इसका प्रत्युत्तर

यहां भी तुमने सुत्त, तेणीया, अत्थ, तेणीया, पणा धारणा करा क्योंकि सूत्र में तो साधू को आहार आदिक गृहस्थी को देना नहीं कल्पे ऐसा मूल पाठ में है और तुमने साधू का नाम छोड के समुच्चय ही लिख दिया इससे यह लेख तुम्हारा विपरीत है तिसका खुलासा हम अगाड़ी प्रश्न तीसरे के प्रत्युत्तर में करेंगे. क्योंकि तीसरा प्रश्न के उत्तर में तुमने इसीनसीथजी का १५ मा उद्देश का ७४ वां बोल की विपरीत पणे से साक्षी दी है तिस हेतु से तथा तुम्हारा यह लेख है कि सूत्र बिपाक के पहिले अध्ययन में गौतम स्वामी जी ने श्री भगवान महावीर स्वामी से पूछा कि हे स्वामी मृगा लोडा ने पूर्वभव में क्या कुपात्र को दान दिया कि जिससे इस भव में ऐसा दुखी हुवा. इति प्रश्नोत्तर का पृष्ट ७ मा.

इसका प्रत्युत्तर ध्यान लगा के सुनो कि प्रथम तो बिपाक सूत्र में तीन पाठ एकहीज कोटी में चले हैं परंतु केवल कुपात्र दान का हीज नहीं वह ऐसे है ध्यान लगा के श्रवण करो.

सूत्रपाठ-किंवादच्चा, किंवाभोच्चा, किंबा सायरित्ता

अस्यार्थः मृगा लोड़लेने कौन अशुद्ध कुपात्र को दान दिया कोण अभक्ष्य मांसादिक भोगव्या कांई कुव्यसनादिक कीधा इति.

अब देखो सूत्र का तो आशय यह है कि कौन कुपात्र को दान दिया यानी कौन से चोर वेश्या को कुकर्म का साज रूप दान दिया या उत्तम मुनि को अशुद्ध आहार जहरादिक जैसे नागसरी ब्राह्मणी ने धर्मघोस मुनि को कडुवा तुंबा दिया वैसा अशुद्ध दान मृगा लोडले ने क्या दिया या क्या मांसादिक खाया या वेश्यागमन, चोरी जुवादिक क्या कुव्यसन सेव्या जिससे ऐसा दुख मृगा लोडले ने पाया ऐसा भावार्थ सूत्र में है परंतु सूत्र में ऐसा नहीं कहा कि साधू के सिवाय और को दान दिया जिससे ऐसा दुख पाया इति.

और हमारा प्रश्न तो यह था कि साधू के सिवाय दान देने में एकांत पाप कहते हो सो पाठ दिखलाओ और तुमने कुपात्र चोरादिक को चोर्यादि कुकर्म सावद्य रूप दान देने का उत्तर बताया सो यह विरुद्ध है.

पूर्वपक्ष–हमतो साधू सिवाय सर्व को कुपात्र कहते हैं.

उत्तरपक्ष–हे भाई साधू सिवाय सर्व को कुपात्र कहोगे तब तो तुम्हारी श्रद्धा से तो श्रावक भी कुपात्र ठहरेंगे फिर कुपात्र को तो चोर वेश्या सरीसा कहे है तो फिर तुम श्रावक को भी चोर वेश्या सरीसे श्रद्धोगे तो फिर चोर की संगत करे तो चोर सरीसा कहा है और वेश्या का वास में ही साधू को जाने की मनाई है यानी परिचय मात्र करना नहीं श्रावक की सभा में भी साधु बैठते हैं संगत करते हैं और श्रावक के घर पर तो साधु आहारादिक निमित्त जाते हैं और फिर सूत्र स्थानांग जी के चौथे ठाणे के तीसरा उद्देश में श्रावक को साधू के माता पिता सरीसा कहे हैं.



( अम्मापिइ समणे ) इति सूत्रम्. तो फिर साधूको श्रावक का परिचय करना भगवान ने फरमाया है और तुम श्रावक को चोर वेश्या सरीसा कुपात्र श्रद्धोगे तो फिर चोर का परिचय करने वाले को सूत्र प्रश्न व्याकरण का तीसरा आश्रवद्वार में चोर कहा है तो फिर साधूजी भी चोर ठहरेगा और वेश्या की संगती से सूत्र दशमी कालिक का ५ मा अध्ययन में कुशीलिया कहा है. तो साधू भी तुम्हारे श्रद्धा से कुशीलिया ठहरेगा. ऐसे कहने से और श्रद्धने से तो सर्व धर्म नष्ट हो जावेगा फिर कुपात्र को तो शिष्य करने में तुम्हारे गुरुजी ने पाप श्रद्धा है. सो तो तुमने गोशाले को दीक्षा देने में पाप माना है. और तुम श्रावक को कुपात्र श्रद्धोगे तब तो तुम तुम्हारे गुरुजी के शिष्य यानी साधूश्रावक होते हो. और तुम्हारे गुरुजी तुमको शिष्य करते है.इसमें भी तुम्हारे गुरुजी में तुम पाप लगना श्रद्धोगे क्योंकि तुम तेरेपंथी श्रावक अपने आप को कुपात्र मानते हो इस हेतु से या कुपात्र को ज्ञान भी नहीं सिखाना और तुम्हारे गुरुजी तुमको ज्ञान सिखाते हैं. तो इसमें भी पाप मानना पड़ेगा इत्यादिक बहुत कथन श्रावक को कुपात्र मानते अटकेंगे.

पूर्वपक्ष—श्रावक को शिष्य तो भगवान् ने भी किया है और ज्ञान भी सिखाया है.

उत्तरपक्ष—हे भाई यह बात जरूर सत्य है परंतु भगवान् ने श्रावक को कुपात्र नहीं कहे हैं. किंतु धर्मी धर्मरागी गुणपात्र रत्नभाजन समान रत्न की माला समान साधू के माता पिता समान इत्यादिक महा गुणपात्र कहा है. परंतु

कुपात्र कहीं भी नहीं कहा है. इससे तुम्हारा साधू के सिवाय सर्व श्रावक को कुपात्र मानना अत्यन्त विरुद्ध है कुपात्र तो चोर वेश्यादिक कुकर्मी है. जिससे सूत्र विपाकजी में चोरी आदिक कुव्यसन का सेवण मद्य मांसका भक्षण करना और चोर वेश्यादिक कुकर्मी को कुकर्म का साजरूप यानी चोरी आदि कुकर्म कराने को दान का देना यह तीनों बोल सरीसे हैं परन्तु गरीब मंगना भिखारी को रोटी देना और चोरी करना पर स्त्री सेवनादिक कुव्यसन का करणा एक सरीरा कभी नहीं होता है तिस वास्ते कुपात्र तो चोर वेश्या या अधर्म का उपदेशक है और श्रावक तो क्या परंतु मंगतादिक को भी कुपात्र कहने का कोई सिद्धांत टीका अर्थादिक में नहीं है हां अलवत्ता मंगतादिक दीनवृत्ति करके आजीविका करने वाले को अपात्र कहे है सो करुणा भावला के देने में एकांत पाप नहीं कहा है परंतु हे भव्यों एक और भी आश्चर्य कारी बात है कि तुम्हारे गुरु जीतमलजी ने भ्रम विध्वंस में भोलों को भ्रमान के वास्ते विपाकजी सूत्र का पाठ भ्रम रुप लिखा सो वह भी बहुत विचारने लायक है.

पूर्वपक्ष—बताइये हमारे गुरुजी जीतमलजी ने क्या भ्रम रूप पाठ लिखा है

उत्तरपक्ष—हे भाई तुम्हारे गुरु जीतमलजी ने भ्रम विध्वंसन के ३२ पत्र पै सूत्र दुःख विपाक का पाठ म्रगा लोडले के पूर्व भव के पूछने का लिखा है तिस जगह ऐसा पाठ लिखा है सो जैसा अक्षर भ्रम विध्वंसन में है.

वैसा ही लिखते हैं कि नाम एवा, किं गोत्त एवा, कय-



रंसि, गामंसिवा, नगरंसिवा ( किंवादच्चा. ) इतना पाठ तो सूत्र का लिख दिया और इसी पाठ के आगे का जो पाठ है कि ( किंवा भोच्चा, किंवासमायरित्ता ) इतना पाठ को छोड़ के फिर आगे का पाठ लिख दिया सो यह है. ( पुराणं, दुच्चिण्णाणं, दुप्पडिकत्ताणं, असभाणं, पच्चाणं, कम्माणं, पावगं, फलविति, विसेसे, पच्चाणं, भवमाणे, भोच्चा, ) इति सूत्रम.

अब विचारिये भाई जीतमलजी ने आगे पीछे का तो पाठ लिखदिया और बीच का पाठ जो ( किंवाभोच्चा ) किंवा समायरित्ता. ) यह ११ अक्षर सुत्रपाठ के क्यों छोड़दिये. तो अनुमान होता है कि जीतमलजी ने ऐसा सोचा होगा कि मेरे गुरु भीषमजी की श्रद्धा तो ११ मी पड़िमाधारी उत्कृष्ट साधू सरीसा श्रावक को भी कुपात्र कहने की है. और यहां सूत्र में तो कुपात्र को दान देनेका पाठ के अगाड़ी के पाठ मे तो यह कथन है ( किंवाभोच्चा के० ) मृगा लोडलाने मांस आदिक क्या खायें ( किंवा समायरित्ता के० ) मृगालोडला ने चोरी करना. परस्त्री और वैश्यागमन करना. शिकार करना. आदिक क्यों कुव्यसन आचरण किये. यह कथन सूत्रमें है तो सूत्रमें तो स्पष्ट है कि कुपात्र को दान देना और मांसका खाना चौर्यादि कुव्यसन सेवना यह तीनों काम एक कोटीमें है. और अब मेरे गुरु भीषमजी की श्रद्धा तो. इग्यारमी पडिमा यानि साधू सरीसी वृत्ती धारन करने वाला उत्कृष्ट श्रावकको कोई दातार निर्दोष अन्न पानी देदे तोभी कुपात्र दान में गिनने की है और कुपात्र दान तो मांस खाना शिकार करना.

सरीसा है सुत्रमें कहा है. जो मैं यहां भ्रमविध्वंसन में विपाक सुत्रका संपूर्णपाठ दिखा देउंगा. तब तो मेरा गुरु भीषमजी की श्रद्धा को माननी लोकों को कठिन पडजायगी. क्योंकि मांसका खाना. चोरीका करना. और पचेन्द्री जीवको शिकार खेल के मारना तिस सरीसा पड़िमा धारी को अन्नादिक फासुकएषणिक देना. ऐसी श्रद्धाको कितनेक लोग नहीं मानेंगे तो मैं अपने गुरुजी भीषमजी की श्रद्धा को लोगों के हृदय में जमाने को सूत्र बिपाकजी का पाठ मृगालोडला के पूछने का विषय का कुपात्र का दान देनेका पाठ तो लिख दूं और इस के अगाड़ी मांस खानेका चोरी आदिके कुव्यसन सेवने का सूत्रपाठ इसकोटी में है तोभी अपना मतपक्ष जमाने को ११ अक्षरों को छोडके आगे का पाठ लिखदूं. जिस से मेरे गुरु भीषमजी की श्रद्धा जो है कि साधुके सिवाय हर किसी को दान देवे वह कुपात्र में है इस श्रद्धाको भोले लोग झट धारन कर लेवेंगे. ऐसा सोच के जीतमलजी ने भोले लोगों को भ्रमाने के लिये भ्रमरूप सुत्रका पाट लिख दिया होगा. नहीं तो ऐसा जैन सिद्धांत को चोरी रूप महा प्रायश्चित् का काम कौन करे जो बीचके ११ अक्षर छोडके आगे पीछे का पाठ को लिखे. पाठकगण विचारना कि भ्रमबिध्वंसन में तेरे पंथियों के पूज्य जीतमलजी ने कैसा भ्रम भरा है. परंतु ध्यान में रखना साधू सिवाय सब कुपात्र नहीं है किंतु कुपात्र तो चोर बेश्या कुकर्मी होते है तिनको कुकर्म कराने को जो कोई दानमान करे उसको कुपात्र दान कहना चाहिये और चोरी करनादिक कुव्यसनादिक का सेवना और साधूके सिवाय किसी को अनुकंपा



ला के दान देना एक सरीसा मानोगे तो फिर प्रदेशी आदिक महा विचक्षण श्रावक ने भी भिक्षाचरों को दान दिया तो वे भी तुम्हारी श्रद्धा से चोरी करना सिकार खेलनादि सरीसा मानना पड़ेगा तो यह बात प्रत्यक्ष से और आगम प्रमाण से दोनों से विरुद्ध है इससे मृगा लोंडला की पूछा सूत्र में है तिसको ग्रहण करके साधु सिवाय सर्व को देने में पाप मानना विपरीत है इति ।

तथा तुम्हारा इसी प्रश्नोत्तर के ७ मापृष्ट में लिखा गृहस्थी असंयति अव्रती अन्यतीर्थी के देने में भगवान के वचनों से लाभतो दूर रहा. गत्युत्त. पाप बंधन सिद्ध होता है. इसका प्रत्युत्तर. हे भाई पाप का तो साधू बार २ निषेध करते हैं. और सिद्धांत में तो कहा कि दान को निषेधे तो झूंठा बोला कहा है. तो फिर पाप सिद्ध होता तो सूत्र सूयगडांग के ११ में अध्ययन में सत्तुकारादि दान में पुन्य नहीं है ऐसा भी नहीं कहणा. एकांत पुन्य है ऐसा भी नहीं कहणा यह क्यों फरमाया क्योंकि जो एकांत पाप होता तो फिर साधू को पुन्य है या पुन्य नहीं है ऐसा नहीं कहके पाप है ऐसा कहते क्योंकि पाप को पाप कहने में क्या दोष है और भी इन सर्व साक्षी से विशेष साक्षी इस विषय की सूत्र से देते हैं सो सुनिये. सुत्र राय प्रश्नेणि में चित्त नामा श्रावक ने केसी स्वामी जो महा राज से अर्ज करी सो पाठ सूत्र का लिखते हैं सुनिये.

सूत्र·तंजइणं, देवाणुप्पिया, पएसिस्सए, रन्नो, धम्म, माईखेज्जा, बहुगुणंतरं, खलुहोज्जा, पएसिस्सरन्नो, ते सिणं, बहुणाथ, दुप्पय, चउप्पय, मिग, पसु पंखि, सिरीसिवाणं, १ तंज

इणं, देवाणुप्पिया, पएसिस्सरन्नो. धम्म, माईखेज्जा, बहुगुण तरं, होज्जा, तेसिंबहुणं, समण, माहण, भिरकुयाणं, २ तंजइणं देवाणुप्पिया, पएसिस्सरन्नो, बहुगुणंतरं, होम्मा, सयस्स, वियणं, जणवयस्स, ॥ ३ ॥ इति सूत्रपाठ ॥

अस्यार्थः- ते माटे जो अहो देवानुप्रिया प्रदेसी राजा प्रते धर्म कहीस्यो तो घणो गुण निश्च होसे. ते के हने गुण होस्ये ते कहे छे प्रदेसीराजा ने धर्म कहिस्यो तो घणो गुण होसइ इह घणा नइ द्विपद चतुष्पद मृग पशु पंखी उंदर नवलादिक एतलांने. तुमे प्रदेसीने धर्म कहीस्यो तो प्रदेसी राजा जीव बध थकी निवृतस्ये ते माटो द्विपद चतुष्पद घणाने गुण थास्ये ॥ १ ॥ ते माटे जो अहो देवानुप्रिया प्रदेसी राजा प्रते धर्म कहीस्यो तो घणो गुण होस्ये ते थकी भलुं फल होस्ये ते घणा श्रमण साक्यादिक ब्राह्मण भीक्षा चर ने घणो गुण होस्ये. ॥ २ ॥ ते माटे जो हे देवानुप्रिया प्रदेसी राजा ने धर्म कहेसो तो घणो गुण होस्ये पोताना देशनों परिगुण होस्यै धर्म सांभली प्रदेशी पोताना देशने विषे कर भर आकेरा नहीं प्रवरतावस्ये ॥ ३ ॥ इति सूत्रार्थः ॥

अब देखो यहांसूत्रपाठ में कहा कि हे पूज्य प्रदेशी राजा को धर्म सुणाबोगा तो बहुत लाभ होवेगा क्योंकि हमारा प्रदेसी राजा को धर्म सुनाने से द्विपद चतुष्पदादिक जीव को बहुत गुण होवेगा तथा भिखारी मंगता को बहुत गुण होवेगा. तथा देश को भी डंड छोडने से बहुत गुण होगा.

अब विचारो कि जो एकांत पाप की श्रद्धा जैसीकि तुम तेरेपंथियों की श्रद्धा है. वैसे जेकर चित्त श्रावक की श्रद्धा होती



तो केशी श्रमण महाराज से ऐसी अर्ज क्यों करते कि तुम्हारे धर्म सुनाने से मंगता भिखारी आदि को भी गुण निपजेगा यह प्रत्यक्ष तुम्हारी यानी तेरेपंथियों के श्रावकों की और चित्तजी श्रावक की श्रद्धा एक नहीं है या तुम्हारा गुरु सरीसी केसी श्रमण महाराज की भी श्रद्धा नहीं थी जेकर होती तो केसी श्रमण महाराज उसी वक्त कहते कि हे चित्त अपणी श्रद्धा तो असंयति अव्रती मंगता भिखारी कुं साता वास्ते उपदेश देने की नहीं अपणा उपदेश तो प्रदेशी को तारणे का है. सो तो नहीं कहा बल्कि निषेध मात्र भी नहीं करा. इस्से केशी श्रमण महाराज तुम्हारे गुरू यानी तेरा पंथियों के गुरू सदृश श्रद्धावान् नहीं थे. किंतु तीर्थंकर महाराज की सत्य श्रद्धावान् थे. जिस्से कहा कि हे चित्त ४ कारण धर्म सुनने के हैं, उसमें एक भी कारण में वर्ते नहीं तो मैं धर्म कैसे सुनाऊं. तब चित्त ने कहा कि हे महाराज मैं प्रदेशी को घोड़ा फेरने के कारण से ले आऊंगा. सो आप धर्म सुनाना, तब केसी श्रमण महाराज ने कहा कि जाणसी यानि अवसर जाणसी. अब विचारो कि चित्त जी श्रावक, और केसी श्रमण महाराज की एक सी श्रद्धा है. नहीं तो निषेध कर देते, तो बिचारो कि मंगता भिखारी को दान देने में गुण नहीं है तो चित्त श्रावक जी केसी श्रमण महाराज के धर्मोपदेश देने से मंगता भिखारी को दान देने रूप, या जीव मरते हुये बचने रूप गुण कैसे कहा. तथा फेर भी इस राय प्रश्रेणि सूत्र में जहां प्रदेशी राजा ने श्रावक पणा धारके दूसरे दिन व्याख्यान सुनके जाणे लगा, तब श्री केशी श्रमण महाराज ने जो कहा है

और प्रदेशी राजा ने जो कहा है, वह सूत्र पाठ लिखते हैं सो ध्यान लगा के एकाग्र चित्त से श्रवण कीजिये ॥

सूत्र पाठ–माणं, तुम्हं, पदेसी, पुव्विरमणिज्जे, भवित्ता पच्छा, अरमणिज्जे, भविस्ससि, जहा, वणसंडेइवा, जावखलवाड़ेइवा, तएणं, पदेसीराया, केसीकुमार, समणं, एवंवयासी, नो, खलुभंते, अहं, पुव्विं, रमणिज्जे, भविता, पच्छा, अरमणिज्जे, भविस्सामि, जहा, वणसंडेइवा, जावखलवाडेइवा, अहणं, सेयविया, पमोखाइ, सत्तगामसहस्साइं, चत्तारिभागे, करिस्सामि, एगंभागं, बलवाहणस्स, दलिस्सामि, एगंभागं, कोठागारेवो, स्सामि, एगंभागं, अंतेउरस्स, दलइस्सामि, एगेणं, भागेणं, महइ, महालिया, कूडागार, सालं, करिस्सामि तत्थणं, बहूहिं, पुरिसेहे, दिणभत्ति, भत्तवेयणेहि, विउलं, असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, उवखडावेत्ता, बहूणं, समण, माहाण, भिखुयाणं, पंथीय, पहिणाणय, परिभाए, २ बहूहिं, सीलव्वय, पंचखाण, पोसहो, ववासेहिं, जाव, विहरस्सामि, त्तिकट्टुजामेवादिसं, पाउब्भूए, तामेव, दिसं, पडिगए, ततेणं, पदेसीराया, कल्लंपाउ, जावतेजसा जलंते, सेविया, पामोखाति, सत्तगामसहस्साइं, चत्तारि, भाएकरोत्ति, एगं, भागं, बलवाहणस्स, दलइति, जाव, कूडागारसालं, करेति, तत्थणं, बहूहिं, पुरसेहिं, जावउवखुडावे, त्ता, बहूणं, समणाणं जाव, परिभाए, माणे, विहरंति ॥ इति सूत्रपाठ ॥

अस्यार्थः–रखेतु प्रदेसी पूर्व रमणीक हुइ न ने पछइ अरमणीक होइ, बनखंडनी परे १ जावत् नृत्यसाला इखुवाड़ २ खलवाड ३ तिवारे प्रदेसी राजा केसी कुमार श्रमण प्रतइ इम



बोल्यो नहीं निश्चइह पूज्य. हुं पूर्वइ रमणीक हुइ ने. पछइ अरमणीक होइस्यउं. जिमते हवनखंड जावत पूर्ववत् खलवाडा नी परे हिवइंडा थकी हुं सेविया प्रमुख सात सहस्र गाम महारा छइ तेह चिहुं भागई करिस्यउ एक भाग ने हाथी घोडादिक ने देस्यउ एक भाग कोठार नइ निमित्तइ मुकस्यउ एक भाग अंतःपुर नई देस्यउं १ भाग भातसाटइ एतलेइ दान वास्ते आपस्यउ विस्तीर्ण असण पाणं इत्यादि ४ प्रकारे च्यार आहार निपजारी घणानइ श्रमण ते सन्यासी, ते ब्राह्मण भिक्षा चरनई, पंथी या वटाउ ने. प्राहुणादिक नइ विहची देतां देतां घणा शुभाचार बारे व्रत प्रत्याख्यान नवकारसी प्रमुख, पोषध उपवासे करी सहित. जावत् आपणो आत्माभावतो थको विचरस्यउ इमकहो. जेह दिसी थकी आव्युहुतउ तणीजादिसि पाछउ गयउ तिवारे प्रदेसी राजा काली प्रगट जावत् तेजीकरी जाज्वल्यमान सूर्य उगइ थकइ. सेतिवका प्रमुख सात सहस्र गाम न इचार भाग करे. एक भाग हाथी घोडा रथ निमित्तइ देइ. जाव पूर्ववत् कूडागार साला करावइ तिहा घणा पुरुष जावत् अशनादिक च्यारी आहार निपजावइ ने घणा श्रमण सन्यासी प्रमुख न ब्राह्मण जाव पूर्ववत् विह चीदतो थको विचरे छइ ॥ इति सूत्रार्थ। अब देखो यहां सूत्र पाठ में कहा कि केसी श्रमण महाराज ने कहा कि हे प्रदेशी तुम पेस्तर रमणीक होके पीछे अरमणीक मत होना. बन खंडादिवत् तब प्रदेशी राजा ने कहा कि हे महाराज मैं पहिले रमणीक होके पीछे अरमणीक नहीं होवुगा मैं मेरे सितंब का आदि दे ७००० ग्राम के चार भाग करूंगा. तिसमें एक भाग

तो हस्ती घोड़ादिक कटक को देऊंगा. एक भाग कोठार भंडार में देऊंगा, एक भाग अंतःपुर को देऊंगा, और एक भाग की मोटी दान शाला मंडाऊंगा, तहां चार प्रकार का आहार निप जा के बहुत से श्रमण साक्यादि ब्राह्मण भिखारी मंगतादिक को देऊंगा. और अपने व्रतादिक को पालता भी रहूंगा. ऐसा कहके घर को गए. फिर प्रातःकाल होते ही पूर्व कथित राज्य के ४ भाग करके राज्य को चौथे हिस्से को दान देता थकां प्रदेशी राजा विचरता भया. अब विचारो कि प्रदेशी राजा हाथी घोड़ा अंतःपुर भंडार का तो श्रावक हुवां पहले भी सार संभार करता था. परन्तु मंगता भिखारी का तो राजा शत्रु था क्योंकि यह कथन पहिले ही चित्त जी. ने अर्ज करी वहां हो चुका है. तो विचारना चाहिये, कि जो मंगतादिक गरीब को दान देने में एकांत पाप होता तो या कुछ भी गुण नहीं होता तो राजा प्रदेशी श्रावक पण पाया पीछे दानशाला क्यों मंड वाता और तुम्हारी श्रद्धा अनुसार इतना पाप क्यों बांधता क्योंकि राजा से किसी ने जबर्दस्ती से नहीं दिलवाया. आपितु अपनी इच्छा से दिया है. और केसी स्वामी जी महाराज की तुम्हारे गुरुजी जैसी श्रद्धा होती तो राजा को त्याग क्यों नहीं करा देते. क्योंकि हाथी घोड़ा भंडार अंतःपुर को तो श्रावक हुवां पहिले ही देता था. तथा दिया विना संसार का निर्वाह नहीं होवे. परन्तु मंगतादिक को तो देने का त्याग सूखे निभ जाते. और केसी श्रमण महाराज, ऐसा भी क्यों नहीं कह देते कि हे राजा धर्म पाके निरर्थक मंगता भिखारी को देने का पाप क्यों बांधता है. क्योंकि तुम कहते हो कि लेणेवाला लेवे और देणे वाला देवे, उस वक्त में निषेध नहीं करणा



उपदेश में दान देणे में पाप बताके त्याग करावे .तिस का अटकाव नहीं. बड़ा धर्म होता है ऐसा तुह्मारे गुरु जीतमलजी भीषमजीका कथन है सो हमने ऊपर तुह्मारे ग्रंथ की साक्षी से लिखा है. तो फिर केसी श्रमण महाराजने प्रदेशी को त्याग क्यों न कराये. एकांत पापका उपदेश क्यों दिया नहीं, क्योंकि यहां तो नहीं तो कोई मंगता लेनेवाला खड़ाथा नहीं प्रदेसी राजा देता था तो फिर निषेध केसी स्वामीजी ने कैसे नहीं कराया परन्तु निश्चय जानो कि केसी स्वामीजी की श्रद्धा दान निषेध करणे की तीनों काल में नहीं जिससे निषेध नहीं करा इस्से तुम्हारी श्रद्धा केसी स्वामीजी की श्रद्धा से एक अंशमात्र भी नहीं मिलती है कदाचित् तुम ऐसा भी तर्क करो कि यह तो राजाओं का काम है सो हमेसाही करते रहते है, जैसा हाथी घोड़ा के पोषने सरीसा वोभी पाप है तो यह भी तुह्मारी कल्पना है सो सूत्रसें नहीं ठहरती है. क्योंकि राजाओं की रीत होती तो प्रथम श्रावक नहीं था. तब दान शाला क्यों नहीं होती, क्योंकि हाथी घोड़े अन्तःपुर भंडार तो श्रावकपणा पाने के पेश्तर ही थे. और दान शाला तो नवीन कराने का अधिकार सूत्रमें खुलाशा है. तो दानतो श्रावक हुवां बाद दिया है. पहिले नहीं और हाथी घोड़ा पोषने सरीसा मगता भिखारी का दान नहीं होता है क्योंकि हाथी घोडा सें तो राजाको स्वार्थ है. परन्तु मंगते भिखारी से क्या स्वार्थ है. क्या वह फौज में लड़ाई के काम आते हैं. क्या राजा को पैदास देते हैं. नहीं २ उनको तो केवल करुणा भाव से देना है. सो हाथी, घोड़ा सरीसा किसी तरह सिद्ध

नहीं होता है. यह तो करुणा दान में है. तथा तुम्हारे तेरेपंथियों का मत चलाने वाले भीषमजी का उपदेश दान निषेध का है. सो भी जरा सा यहां पर प्रकट करते हैं. देवगुरु धर्म ओलखाण नामा पुस्तक न० २ ढाल १२ मी भीषमजी कृत गाथा.

( इव्रत में दान देता थकां पड़े श्रावक जीरे मनधड़कजी काम पड़े इव्रत में दान रो जब तो हो सर्मासर्म जी. पीछे करो पिछतावो तेहनो कांयकही लापड़े कर्म जी ३९ इव्रत में दान देवातणो टालो परो करे उपायजी. जाणे कर्म बंधे छे माहरे मोने भोगवतां दुख थायजी. ४० इव्रत में दान देता थकां बंधे आठों ही पाप कर्म जी ) इत्यादिक।

इन गाथाओं का भावार्थ सुनिये. व्रत में यानि साधू सिवाय मंगतादिकन को दान देते थके श्रावक के मन में धड़क पड़ जाय कि हाय मेरे को इन पापियों को कहां देना पड़ा. कदाचित् शर्माशर्म देवे तो पीछे पश्चात्ताप करे कि हाय मैंने अव्रती मंगतादिकन को दान दिया. मेरा क्या हाल होवेगा. मुझे धिक्कार होवो जो मैंने इन पापियों को दान दिया. ऐसा पश्चात्ताप करे तो उसके कछुक कर्म ढीले पड़े ३९ अव्रती मंगतादिकन को देने का आप टाला करे अन्य को करावे किंतु मंगतादिकन को साधु सिवाय दान देके मत डूबो. दान देने का टाला करते को भला जाणे तो अच्छा किया मंगतादिकन को दान नहीं दिया. क्योंकि श्रावक मन में जाणे कि अव्रती मंगतादिकन को देऊंगा तो मारे आगे पाप कर्म बंधेंगे. फिर मुझको भुगतणा पड़ेगा. जब मुशकिल होगा. ऐसा जाण के टारा लेवे. अर्थात् नहीं देवे ॥ ४४ ॥



अव्रती मंगतादिकन को देने में आठों पाप कर्म बंधे, जिससे नहीं देना, यह कथन उक्त गाथा का भावार्थ हुवा, अब जरा बुद्धिमान् पुरुष विचारिये कि भीषमजी की श्रद्धा का श्रावक तो वही होगा, कि जिसके मंगतादि अव्रती को दान देता धड़का पड़जाय, या कोई राज पंचायत का लाज से देना पड़े तो वह तो पश्चात्ताप करे, वह श्रावक भीषमजी की श्रद्धा के अनुकूल है. परंतु उत्साह से किसी के, विना शर्माशर्म से अपनी खुशी से देवे वहतो श्रावक भीषमजी की श्रद्धा के अनुकूल रहा ही नहीं, तो हे मित्रों उक्त तुम्हारे गुरु भीषमजी का लेख प्रदेशी राजा श्रावक से मिलावो कि उस प्रदेशी राजाजी ने जो नहीं तो शर्माशर्म से दिया नहीं धड़का खाया. कि हाय मेरे को कहां देना पड़ा, यह भी नहीं, उलटा अपनी खुशी से राज्यका चौथा हिस्सा दान पुन्य में दिया, या तुम्हारे गुरु भीषमजी की श्रद्धा, दानदेने में एकांतपाप और आठों पाप कर्म अशुभ बंधते हैं ऐसी श्रद्धा है तो फिर प्रदेशी राजा. श्रावक पणा पाये बाद यह काम क्यों किया और केसी श्रमण महाराज ने रोका क्यों नहीं, कि हे प्रदेशी धर्म पायके यह महा पाप कर्म क्यों बांधता है. जैसे कोई पुरुष धर्म में नहीं समझने से पहिले तो मद्य मांस नहीं खावे और सिकार खेलना चोरी करना परस्त्री सेवनादिक अधर्म नहीं करे. और धर्म पायां बाद पूर्वोक्त अधर्म करे वह धर्मी कैसे होवे. या उसको गुरू महाराज क्यों नहीं समझावे. कि हे भाई अबतो तूं धर्मी हुवा सो जो महापाप कुव्यसनादि पहिले नहीं करता वह अब नहीं करना चाहिये. और करता था वह छोडना

चाहिये वैसेही तुह्मारी श्रद्धा के लेखे तो जैसा मद्य मांस खाना चौरी परस्त्री सेवनादिक कुकर्म करना. और मंगता भिखारी को देना. यह दोनों एक कोटी, यानी एक पंक्ती में गिनते हो तो प्रदेशी राजा श्रावक हुवां पेश्तर तो दान देताही नहीं था. सो यह मंगता को दानरूप महाभयंकर पाप कर्म श्रावक हुवा पेश्तर तो राजा को तुह्मारी श्रद्धा से नहीं लागता था और अब प्रदेशी राजा श्रावक हुवां बाद दानशाला मंडवाई तो फिर दान शाला तुम्हरी श्रद्धा से परस्त्री, चोरी वेश्यागमन सरीसा कुकर्म तुम्हारे गुरुजी गिनते है तो फिर तुह्मारी श्रद्धा अनुसार तो प्रदेशी राजा ने श्रावकपना क्या धारा मानों वड़ा पाप धारन किया कि जो पहिले दान शाला नहीं थी सो नवीन मंडवाई और केसी स्वामीजी महाराज ने प्रदेशी को रोक्या क्यों नहीं. कि ज्यो पहिले नहीं करता वह कुकर्म अवक्यों करता हैं.

पूर्वपक्ष-प्रदेशी राजा को तो हम श्रावक हुवां बाद बड़े धर्मवान् मानते हैं और धर्मवंत होने से पहिले स्वर्ग में सूर्याभविमान् के मालिक महान् ऋद्धिवान् देव हुए हैं. और वहां चव के महा विदेह क्षेत्र में जन्म धारन करके संयम पाल से मोक्ष जावेंगे. तिससे हम उनको अधर्मी नहीं मानते हैं.

उत्तरपक्ष-हे मित्र इससे ही हम कहते हैं कि मांस खाना वेश्या परस्त्रीगमन करना. सिकार करनादिक कुकर्म सरीसा मंगता भिखारी को दान देना नहीं होता है. और कुपात्र दान में भी नहीं है. क्योंकि कुपात्र दान तो वेश्यागमन सिकार करने सरीसा सूत्र विपाक का प्रथम अध्ययन में कहा है. इस



हेतु से कुपात्र दान तो वेश्या चौरादिकों को कुकर्म कराने को देवे. वह है और दुखी भूखा मंगतादिकों को करुणा करके देना सो तो करुणा दान है. और सूत्र ठाणांग का दशमां ठाणा में भी दुखी को देना सो करुणा दान में है और करुणा दान देने में एकांत पाप नहीं है इससे हम कहते हैं कि हे मित्रों अब भी श्री भगवान् का मार्ग की श्रद्धा रखणी होवे तो विचारना कि गरीब अभ्यागत को दान देने में कुछ भी गुण न होता तो प्रदेशी राजा श्रावक पणा पाम्यां पीछे दानशाला क्यों मंडवाता. या एकांत पाप दानशाला मंडवा के दान देने में होता तो केसी श्रमण महाराज त्याग क्यों न कराते. क्या केसी श्रमण महाराज ४ ज्ञान १४ पूर्वधारी से भी तुम्हारे गुरु भीषमजी को ज्ञान अधिक था. जो श्रावक को गरीबों को देने का त्याग कराते. या त्याग का उपदेश देते. और ऐसी सावद्य जोड़ी करके कहते हैं कि श्रावक को साधू सिवाय दान देने का त्याग कराना चाहिये. यह सब कथन जैन सिद्धांत से विरुद्ध है.

पूर्वपक्ष-हमारे गुरुजी कहते हैं कि साधु सिवाय और को दान देने का त्याग अभिग्रह आनंद जी श्रावक ने करा है तिससे हम भी साधू सिवाय दान देने का त्याग का उपदेश देते हैं. और त्याग कराते हैं.

उत्तरपक्ष-हे भाई यह बात तुम्हारे गुरुजी की कपोल कल्पना की है. परंतु आनंदजी ने ऐसा अभिग्रह धारण नहीं किया. कि मैं साधू के सिवाय किसी को दान नहीं देऊंगा. हां अलबत्ता यह अभिग्रह सूत्र उपासक दशा में पहिला

अध्ययन में आनन्दजी ने धारण करने का अधिकार है कि हे भगवान् अब मैं श्रावक हो गया हूं इसलिये आज पीछे जैन धर्म के द्वेषी ऐसे जो अन्यदर्शनी के गुरु. अन्य दर्शनी के देव या जैन दर्शन से भ्रष्ट होके जो साधु अन्य के दर्शन में जाके मिल गया. इन सर्व को मैं वंदना नमस्कार सत्कार सन्मान दानादिक नहीं करूंगा, क्योंकि वह धर्म के द्वेषी होने से उनसे मैं विना बुलाया बोलूंगा भी नहीं, यह अभिग्रह धारन करा सो धर्म के द्वेषी की संगत वर्जने के वास्ते है. परंतु करुणा करके देने का नियम नहीं लिया है, औरफिर इस विषय में इतना विचार करना चाहिये कि १२ व्रतधारी जैसा आनंद श्रावक हुवा वैसे १२ व्रतधारी प्रदेशी राजा भी हुवाथा. और राजा प्रदेशीने भी आनंद सरीसा अभिग्रह धारन किया था, परंतु करुणा करके देने का नियम नहीं लिया है. जेकर लिया होता तो श्रावक हुवा बाद दान शाला क्यों मंडवाई,यह तो खुलासा दीख रहा है कि धर्म के द्वेषी श्रद्धा से भ्रष्ट को वंदना, नमस्कार, दान, मान गुरुबुद्धि से करना छोडा है. परंतु करुणा करके नहीं देना ऐसा अभिग्रह किसी श्रावक ने नहीं लिया है बल्कि सूत्र में जहां २ श्रावक के गुण का वर्णन चलता है तहां २ यह पाठ है कि ( अवंगुय, दुवारे )

अस्यार्थः ( अवंगुय, के०' ) जेहना घरना वारणा सदा उघाडा छे दान गुणे ॥ इति सूत्रार्थः

अब देखो सूत्र में श्रावक लोकों का ऐसा गुण श्री भगवान् ने बताया है, कि जिनके घर के द्वार, दुखी सुखी आदि को दान देने निमित्त खुले हुए हैं, तथा सूत्र भगवती जी का



दूसरा शतक पंचम उद्देश में, जहां तुंगिया नगरी के श्रावक का कथन है तहां टीकाकार जी ने भी इस पाठ की टीका में ऐसा लिखा है ॥

टीका-भिक्षुक प्रवेशार्थ मौदार्यादस्थगित गृहद्वार इत्यर्थः टीकार्थः-भिक्षुक लोगों के प्रवेश निमित्त उदारपणा से नहीं ढका है घर का द्वार जिनका. इति

यह देखो टीका में भी कहा कि भिक्षाचरों को अपने घर में आने वास्ते दान देने की उदारता से गृह के द्वार खुले रखे हैं जिन श्रावकों ने, तो विचारो भाई गरीब भिक्षाचरों को दान देने में महा कुकर्म था, एकांत पाप होता तो दान देना श्रावक का गुण में सूत्र में कथन कैसे करा. तथा कदाचित तुम्हारे गुरुजी कहदेवे, कि यह तो साधू को देने वास्ते द्वार खुले रखने का सूत्र में कहा है. तो यह बात भी स्वकपोलकल्पित विपरीत है क्योंकि साधू को दान देने का तो इस पाठ से न्यारा पाठ अगाड़ी इसी कथन में चला है इस हेतु से ( अवंगुय, दुवारे ) इस पाठ का अर्थ तो भिखारी गरीबों को दान देने निमित्त श्रावक के घर का द्वार खुला है यह ही सत्य है. तथा आणंद जीके साधू सिवाय दान के त्याग थे तो फिर चार हजार गायों को क्यां पोषते. या पुत्र को भार दिया तब सर्व न्यात को जिमाई तब उनका अभिग्रह रहा कि टूटा.

पूर्वपक्ष-इन कामों का तो आनंद जी ने आगार रखाथा.

उत्तर-हे भाई! आगार तो अन्य दर्शनी की भक्ति का करने का अपना मन नहीं, और राजादिक जबरन से करावे उसको

कहिये और न्यात तो अपनी खुशी से आनंद जी ने जिमाई है, परंतु किसी की जबरन से नहीं, ऐसे ही प्रदेशी राजाने दानशाला मंडवाई सो अपने खुशी से, परंतु किसी के जबरन से या शर्म से नहीं. इससे स्पष्ट है कि आनंदादिक श्रावकों ने जिन धर्म के द्वेषी अन्य दर्शनी के गुरु को या उनके देवको. या भ्रष्ट साधू को वंदना, नमस्कार, दान, मानादिक से परिचय करना छोडा, परंतु साधू के सिवाय दान देना का अभिग्रहं आनंद जी ने लिया, यह कहना व्यर्थ स्वकपोल कल्पित है.

अब हमारा इतना सूत्रपाठ अर्थ टीकादिक से खुलासा करणा इसी हित से है, कि हे मित्रो ! तुम जैनी नाम धराते हो और जैन सिद्धांत का नाम लेके कहते हो कि मंगतादिक दुखी को देने में एकांत पाप है और सिद्धांत में कहां भी नहीं हैं, जिससे हमारा तुमको कोमल आमंत्रणा से कहना है कि सिद्धांत का अच्छता नाम ले के धर्म की हानि का काम करना नहीं चाहिये, क्योंकि जैन धर्म में करुणा करके दान देने का निषेध कहां भी नहीं है तिससे हमने इतने सिद्धांत के पाठसे खुलासा किया है, अब कोई जैन मत से अन्य मत वाला प्रश्न करता है कि तुह्मारे जैन सिद्धांत में जैन मत के साधू सिवाय दूसरे को अन्नादिक देने में पाप है ऐसा हम सुनते हैं सो यह बात कैसे है.

उत्तर-हे भव्य ! यह बात जैन सिद्धांत के अजाण की है, क्योंकि हमारे जैन सिद्धांत में करुणा करके अन्नादिक देने का निषेध कहां भी नहीं है, परंतु हे भाई तुमने यह बात जैन सिद्धांत से उलटी श्रद्धा वाले से सुनी होगी, तिससे तुमको



यह शंका उत्पन्न होती है, परंतु यह बात सर्वथा व्यर्थ है. हां उसका दान सन्मान करना वर्जित है, कि जो दया धर्म का द्वेषी है. लोको को मिथ्या उपदेश दे के धर्म भ्रष्ट करने वाला होवे, तैसे को उत्तम समझ के जिमाना या सत्कार सन्मान करना वर्जित है यह हमारा जैन सिद्धांत का लेख है, और ऐसे कुपात्र को देने का निषेध तो स्मृति पुराणादिक बहुत से ग्रंथो में है. सो विद्वान् तो समझ लेते हैं, परंतु कोईक भद्रिक को नहीं मालूम होवे, और जैन ग्रंथों के विरुद्धियों के बचन सुन के सत्य समझ लेवे उसके वास्ते हम मनुस्मृति की साक्षी देते हैं सो सुनिये कि जिसको वेद तुल्य बड़े बड़े विद्वान् संस्कृत विद्या के पारंगत मानते हैं.

श्लोक—पाषंडिनो विकर्मस्थान् विडालवृत्तिकान् शठान् ।
हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापिनार्चयेत् ॥ १ ॥
श्लोक ३० मा मनुस्मृति चौथा अध्याय

इसका भावार्थ—पाखंडी, विरुद्धधर्मी, वकवृत्ति का करने वाला, विडाल सरीसी वृत्तिवाला, शठ धूर्त कुहेतु का लगाने वाला, बुगले सरीसा कपट क्रियावान्, इतने को वचन मात्र से भी अर्चा सत्कार करना नहीं चाहिये. इति.

अब विचारो कि ऐसे कुपात्र की सेवा तो तुम्हारे शास्त्र में भी वर्जित करी है. और हमारे सिद्धांत में भी इस विषय का जो सूत्रपाठ है सो लिख दिखाते हैं.

सूत्र—पर पाषंड, प्रशंसा, परपाषंड, संयवोवा. इति.

अस्यार्थः—परमत के पाषंडी आदिक दुष्ट कर्म के उपदेशक की प्रशंसा और उससे परिचय करना वर्जित है. क्योंकि

ऐसे की संगति से गुणवान् भी निर्गुण हो जाता है. इस हेतु से परंतु करुणा करके दान देने का निषेध किसी जगह नहीं है. ( अनुकंपा, दाण, पुण, जिणेंहि, नकयावि. पडि सहित ) इति बचनात् ॥ अनुकंपा दान की किसी तीर्थंकर परमेश्वर ने निषेध नहीं किया है. यह सूत्र भगवतीजी के अर्थ का लेख है सो तुम समझ लेना' अब पूर्व पक्षों का कथन करते हैं तथा तुम्हारा लेख प्रश्नोत्तर के ८ मा पृष्ठ में है कि साधू के सिवाय दान देने में लाभ होवे तो साधू भिक्षा लावे उसमें से यदि किसी तरह बच जाय तो वह आहर हर किसी को देकर इस धर्म को हासिल कर सक्ते हैं और आप के कहने मुताबिक यदि धर्म होता होवे तो साधू वैसा क्यों नहीं करते इसका प्रत्युत्तर--अरे मित्रों तुम जैनी नाम धराके जैन धर्म के अनजान सरीसा प्रश्न उठाया. परन्तु सावधान होके सुनिये इसका निर्णय दिखाते हैं कि प्रथम तो हमने इसका खुलासा पेश्तर कर दिया है कि साधू को तो एकांत पुण्य. या एकांत पाप दोनों नहीं कहना. साधू को तो इसमें मौन रखणी हमारा तो तुमको कहना है कि भगवानने तो एकांत पाप. अनुकंपा करके देने में नहीं कहा. एकांत पाप कहे उसको पाप कर्म का बंधन करा है सो हमने उपर सिद्धांत पाठ से बतलादिया है. अब जरा बुद्धि बल होवे तो विचार लेवो कि जिन कामों का एकांत पुण्य पाप का हमारा कहना भी नहीं है. तो देना कहां से हो सकता है. बहुत से काम मिश्रपक्ष के यानी पुण्य पाप करके सहित हैं. उनकी साधूलोक आज्ञा या निषेध नहीं करते.

पूर्वपक्ष-आज्ञा तोनहीं देते परंतु मंगतादिकों के देने में तुम



क्या श्रद्धते हो.

उत्तरपक्ष-देनेमें जितनी करुणा या ममता पुद्गलों से उतारणी उतना पुन्य का विभाग है. और देने लेने रूप हिंसादि प्रवृत्ति उतना पाप है. इससे मिश्रपक्ष है क्योंकि प्राणि जीवों की करुणा में शुभयोग है. और भगवतीजी के ५ में शतक छट्ठा उद्दशा में वस्तु बेचने वाले को जहांतक वस्तु अपने पास है वहांतक भारी क्रिया लागे और बेचके देदी तब हलकी क्रिया लागे. तो विचारना चाहिये कि लोभ निमित्त वस्तुको बेचने से भारी क्रिया से हलकी क्रिया का लाभ हुवा तो अनुकंपा निमित्त दया का प्रणाम से देवे उसको लाभ कैसे नहीं होवे.

पूर्वपक्ष-मिश्रपक्ष कहां कहा है

उत्तरपक्ष- सिद्धांत में सर्व कथन तीन पक्ष में समावेश होते हैं. वह ऐसे हैं. धर्मपक्ष की जिसमें साधूजी आज्ञा देवें और उपदेश दे के करावे. वहतो काम धर्मपक्ष में है. और अधर्मपक्ष कि जिस काम को साधूजी निषेध करें उपदेश देके उसको छोडावे, वह काम अधर्म पक्ष में है. और मिश्र पक्ष. कि जिस काम को साधू मुनि नहीं निषेध करे और नहीं स्थापन करें किंतु मौन रक्खें, क्योंकि पुन्यपाप अर्थात् धर्म अधर्म दोनों सामिल होने से एकांत पाप निषेध या स्थापन नहीं करे.

पूर्वपक्ष-मिश्र पक्ष के कार्य कौनसे हैं कि जिन कामोंका साधूजी एकांत निषेध या स्थापन नहीं करे.

उत्तरपक्ष--सुनिये भाई बहुत से कार्य सिद्धांत में है सो हम थोड़े से ही दिखाते हैं कि प्रथम रायप्रश्रेणीसूत्र में चित

सारथी ने केसी श्रमण महाराज से अर्ज करी कि मैं राजा प्रदेसी को घोड़ा फिराने के मिष से उसको साथ लेके आऊंगा, आप धर्म सुनाना अब देखिये कि राजाको धर्म सुनाना तो अच्छा है. परन्तु घोड़ा फिराने की हिंसा पाप में हैं, इससे केसी श्रमण महाराजने वहां ऐसा नहीं कहा कि तैंने अच्छा काम विचारा, क्योंकि ऐसे कहने में घोड़ा फिराने की सावद्य क्रिया की अनुमोदना लागे और ऐसा भी नहीं कहा कि यह काम बुरा है, क्योंकि बुरा कहै तो राजा प्रदेसी को धर्म सुनाने रूप धर्म प्राप्ती की हानि रूप होवे, और चितजी अपने अवसर को जाणते थे सो अनेक योजन लग घोड़ों को दौडा के प्रदर्शी राजा को बाग में ले आये. यह प्रत्यक्ष मिश्र कार्य सूत्र राय प्रश्नेणिजी में है. धर्म सुनाने की दलाली का लाभ और घोड़ा दौड़ाने का खर्च रूप हिंसा हुई जिससे मिश्रपक्ष तथा सूत्र ज्ञाता जी के १२ में अध्ययन में सुबुद्धि प्रधान ने राजा जित शत्रु को पाणी का दृष्टांत यानी खाई का पानी को सुधार के राजा को समझाया और श्रावक किया, यह पानी का आरंभ है सो खर्च रूप हिंसा है और राजा को समझाने का लाभ यह मिश्रपक्ष हुवा, तथा ज्ञाता जी का ८ मां अध्ययन में श्री मल्लीनाथ जी महाराज ने मोहन घर कराके पुतली के हेतु से छ मित्री राजा को प्रतिबोधे, प्रतिबोधने का लाभ और मोहनघर के खर्चरूप हिंसा, यह मिश्रपक्ष तथा ज्ञाताजी के पंचम अध्ययन में थावरचा पुत्र के दिक्षा के अवसार में श्रीकृष्ण महाराज ने ढंढ़ोरा फिराया कि जो दिक्षा लेवे उसको श्रीकृष्ण जी आज्ञा देते हैं,



और पिछाड़ी वालों की सार संभार मैं करूंगा. यह सुन के हजार पुरुषों ने संयम लिया, यह संयम दलाली का तो लाभ और ढंढेरे संम्बधी खर्च रूप हिंसा यह मिश्रपक्ष, तथा राय प्रश्नेणी में राजा प्रदेशी धर्म सुनके बिना वंदना करके जाने लगा, तब केसी श्रमण महाराज ने कहा, कि हे राजन्! तैंने मेरे से टेढ़े टेढ़े प्रश्न किये, और अब बिना खमायां कैसे जाने लगा, तब राजा ने कहा कि हे स्वामिन्! मैं कल मेरा अंतःपुरादि परिवार सहित मोटे मंडाण से आके आपको वंदना करके अपराध क्षमा कराऊंगा, तब केसी श्रमण महाराज ने नहीं तो अच्छा कहा, क्योंकि अच्छा कहे तो राजा के आने की नगर शृंगार की अंतः- पुरादिक स्नान की. हाथी घोड़ों के आने जाने की अनुमोदना लागे और निषेध भी नहीं किया, क्योंकि निषेध करने से- जिन मार्ग का प्रभाव या राजा की भक्ति का अंतराय होवे. इससे मिश्रपक्ष होने से केसी स्वामीजी महाराज ने हां नां कुछ भी नहीं कहा. राजा ने कोणीक के परेवड़े आडम्बर से केसी श्रमण महाराजका दर्शन करके अपराध क्षमा कराया. यह भक्ति का लाभ और अंतःपुरादि शृंगार और आने जाने रूप खर्च सो हिंसा. यह मिश्रस्थान तथा सूत्र रायप्रश्नेणि में केसी श्रमण महराज प्रदेशी को कहा कि हे प्रदेशी तू रमणीक हो के पीछे अरमणीक मत होना. तब प्रदेशीराजा ने राज के चार भाग किये. एक भाग घोड़ा आदि का. १ दूजा भाग भंडार कोठार में २ तीजा भाग अंतःपुर को ३ चौथा भाग की दानशाला ४ दान के सिवाय तीन कार्य तो पहिले ही थे. परंतु राजा का चौथे हिस्सा का दान देना यह

कार्य रमणीक पने का है. परंतु केसी स्वामीजी महाराज ने हां नां कुछ भी नहीं कहा. क्योंकि हां कहते तो भात पाणी निपजाणे रूप सावद्य की अनुमोदना लागे.

नां कहे तो राजा का करुणा भाव और द्रव्य से ममत्व उतार के दान देना उस लाभ का छेदन होवे तथा भिखारियों को अंतराय होवे यह प्रत्यक्ष मिश्र ठिकाना है. अब हृदय के नेत्र खोलके देखो कि राजाने परिवार सहित आके अपराध खमाउंगा ऐसे कहा वहां भी मौन रक्खी और दान देनेका कहा वहां भी मौन रक्खी क्योंकि दोनों में सावद्य का सद्भाव है. और लाभ यानी धर्म का भी सद्भाव है. इससे साधुजन भिक्षाचरों को दान देवो, तथा आडंबर करके वंदने को आवो, दोनों कार्य में मौन रखते हैं, नहीं तो निषेध करते हैं और नहीं स्थापन करते, है यह वीतराग का न्यायमार्ग है. परंतु अब जरासा हे मित्रों! तुह्मारे गुरुजी की श्रद्धा और प्रवृत्ति में ध्यान देवो कि उनकी श्रद्धा और प्रवृत्ति किस तरह की है. वह दिखलाते हैं सो सुनिये प्रथम करुणा करके दान देने का निषेध नहीं करना सो तुह्मारे साधुजी प्रत्यक्ष निषेधते हैं और त्याग भी करते हैं सो हमने ऊपर तुह्मारे गुरु भीषमजी की जोड़ है तिसकी ढाल की गाथा लिख दी है. अब देखो कि सिद्धांत में नहीं निषेध करना उसका तो निषेध कर रहे है और एकांत पाप बतलाते हैं और जो कोई आडंबर करके वंदना करने को आते हैं उसका निषेध या एकांत पाप तुह्मारे ग्रंथों में कहीं भी नहीं देखा है, उलटा यह सुनते हैं, कि तुह्मारे साधुजी तुमको उपदेश दे के त्याग कराते हैं कि हमारी पंचकोश दश कोष वीस



कोश तक सेवा करनी या पूज्यजी जिस ग्राम में होवे उस ग्राम में शालभर में एक दो वक्त आके जरूर दर्शन करने ऐसे त्याग कराते हैं और तुम लोग वैसे करते भी हो, अब देखलो कि सिद्धांत में दान देनेका नहीं निषेध करना, उसका तो निषेध करते और त्याग कराते है. एकांत पाप बतलाते हैं देने वाले को महा पापी कुकर्मी मानते हैं और परमेश्वर ने दशकोश बीश कोशादिक गृहस्थ को संग रखने की मनाइ करी है उसका त्याग कराके संघ में रखते हैं.

पूर्वपक्ष-गृहस्थ को पंचकोश दश कोशादिक तक संग में रखने की मनाई किस शास्त्र में करी है?

उत्तरपक्ष-सूत्र नसोथजी के दूसरा उद्देश में खुलासा पाठ है कि गृहस्थी तथा अन्य तीर्थों के संग में जंगल में जावे, शय्यादिक की जगे जावे या गृहस्थ के संग आहार पानी लेने को जावे और ग्रामानुग्राम विहार करे तो उस साधु को एक महीने का प्रायश्चित्त आवे है, इसका मूलपाठ चौथा प्रश्न में लिखा है. अब पूर्वोक्त तीनों काम तुह्मारे गुरुजी करते हैं. तुह्मारे पूज्यजी शरीर चिंता को ठंड लेजावे.

वहां भी तुमलोक संग जाते हो और तुम्हारे पूज्य जी तुम्हारी भक्ति गिनते हैं. और तुम निर्णय भी नहीं पूछते हो कि किस शास्त्र में यह कल्प भगवंत ने फरमाया है कि गृहस्थी के संग शरीर चिंता को जाना, जाना तो कोई भी सूत्र में नहीं कहा है. परन्तु जंगल गृहस्थी संगाते जानेवाले को भला जाणे तो चौमासी प्रायश्चित्त आता है. अब नित्य चौमासी प्रायश्चित्त सेवने वाले को तुम्हारी श्रद्धा से साधु कैसे मानते हो. तथा

ग्रामानुग्राम भी तुम ऊंट घोड़े गाडी में बैठ के पूज्य जी की भक्ति निमित्त संग रहते हो. और पूज्य जी तुमको त्याग दिला के संग रखते हैं और धर्म मानते हैं. देखो २ बड़ा आश्चर्य है, कि जिस काम को साधू को सफा मनाई करी है उस काम में तो तुम्हारे पूज्य जी भक्तिरूप धर्म मान कर तुम लोगों से सूखे भोजनादिक लेते हुये विहार करते हैं और तुम लोकभक्ति करते हो और विचारे गरीब अभ्यागत दुखी सुखी को देने का त्याग कराते हैं. और एकांत पाप बता के गरीबों की वृत्ति छेद करते हैं. बड़ा आश्चर्य है कि किस तरह ऐसी श्रद्धा बैठ जाती है हमने तो बुद्धिमानों के तोलने के लिये यह दोनों पक्ष स्पष्ट लिख दिये हैं. अब मध्यस्थ होगा तो तोल लेवेगा ।

पूर्वपक्ष-हमारे गुरुजी तो घोड़ा गाडी आदिक में बैठ के आने जाने को धर्म नहीं कहते हैं किंतु वंदनादिक को धर्म कहते हैं ।

उत्तरपक्ष-जेकर आने जाने में धर्म नहीं कहते तो श्रावक को सामे आने के या साधु के संग में रहने के त्याग क्यों न करावे. उलटी दशकोश वीशकोश भक्ति करना ऐसा क्यों कहे।

पूर्वपक्ष-त्याग कराने से श्रावक की भक्ति भांगे, इससे साधु के सामने जानेका आडंबर से जानेका त्याग नहीं करावे ।

उत्तरपक्ष-हे भाई इसी से हम कहते हैं कि यह मिश्रपक्ष है. खर्च सहित लाभ है, इससे प्रदेशी राजा को भी केसी श्रमण महाराज ने आडम्बर से आने की आज्ञा नहीं दी और नहीं निषेध किया. वैसे ही दान देने की नहीं तो रजा दी, और नहीं निषेध किया. परंतु तुम्हारे गुरुजी श्रावक के संग विहार



करते, और त्याग दश वीश कोशादिक का कराके संग रखते हैं, यह सिद्धांत में निषेध किया कार्य क्यों करते हैं. तथा मंगतादिक अभ्यागत को दान देने का निषेध क्यों करते हैं क्योंकि दान निषेध करे उसको झूठ बोला कहा है. या केसी श्रमण महाराज ने भी निषेध नहीं किया, तो तुम्हारे गुरु निषेध क्यों कराते हैं या त्याग क्यों कराते हैं, अब भी सोच समझ के अच्छी तरह बात करनी और सूत्र विरुद्ध को छोडना यह उत्तम धर्म है ।

पूर्वपक्ष—मिश्रतो धर्म में होवे ही नहीं. क्योंकि जहर और अमृत भेले होने से जहर होजावे. वैसेही धर्मतो अमृत और पाप है सो जहर, वह दोनों शामिल होने से पापरूप होवे. वैसे ही पुन्य है सो अमृत, और पाप है सो जहर. यह भी सामिल होने से पापरूप होवे.

उत्तरपक्ष-हे भोले भाई यह दृष्टांत असत्य है. क्योंकि मिश्रपक्ष में तो श्रावक भी है. सूत्र सूयगडांग का दूसरा स्कंध का दूसरा अध्ययन में तो सर्व श्रावक तुह्मारी श्रद्धा से डूबजावेंगे. क्योंकि विरताविरतिक कहे हैं सो हिंसादिक से निवृते वह तो धर्ममें हैं और हिंसादिक से नहीं निवृत्त होना पाप में हैं. तिस से मिश्र स्थान होने से सकषाय साधुजी भी डूब जावेंगे क्योंकि क्रोध मान माया लोभ तो नवमा गुण ठाणा तक है. और क्रोध मान माया लोभ पापमें है और साधुका क्षमादि दश प्रकार का धर्मतो धर्म में है तो फिर सकषाय साधु में क्रोध और क्षमादि धर्म दोनों का सद्भाव है तो क्या सकषायें साधु भी डूब जावेंगे. नहीं, ऐसा कभी नहीं होता है, इससे यह

दृष्टांत जहर अमृत का यहां नहीं मिले. बस हमारा तो मानना जैसा केसी श्रमण महाराज ने आडंबर से वंदना करने को आने में और दान देने में ज्ञेय पदार्थ है यानी जानने योग्य है सो मौन रखी, वैसाही हमारा मानना है और मंगतादिक को करुणा करके देना उसमें जितनी ममता पुद्गलों से उतार के देवे या करुणा दया आवे उतना शुभ योग्य पुन्य में हैं और हिंसादि सावद्य व्यापार होवे वह पाप में है, जिस काम का साधुजी निषेध नहीं करे या स्थापना भी नहीं करे, उसको मिश्रपक्ष कहना वह ज्ञेय पदार्थ जानने लायक है इति ।

इससे तुम्हारा लिखना है कि जो साधु के सिवाय दान में लाभ मानते हो तो बचा हुवा आहार दे के लाभ क्यों नहीं करते हो! इसका उत्तर ऊपर से संपूर्ण समझ लेना कि हम एकांत पुन्य नहीं कहते हैं अपितु मिश्रपक्ष है जिससे साधु को एकांत पुन्य कहने का या एकांत पाप कहने का ही कल्प नहीं तो देने लेने का कैसे होसके, यह बुद्धि बल से समझ लेना. तथा तुम्हारा उलटा प्रश्न है कि गृहस्थी असंयति अव्रति अन्यतीर्थी इनको दान देने में धर्म कहते हो सो पाठ दिखलावो. यह प्रश्न अनुचित है, क्योंकि हमारा एकांत मानना नहीं है जैसा सिद्धांत में मिश्रपक्ष कहा वैसा हम मानते हैं. और ऊपर लिख दिया है, तथा तुम्हारा लिखना प्रश्नोत्तर के पृष्ठ ८ वें में है, कि श्री तीर्थंकर भगवान् का वर्षी दान देना जन्म महोत्सव के कलश का पानी ढोलना स्नान करने की रीति के समान है ।

यह भी अत्यन्त बिना बिचारी बात है. क्योंकि स्नानतो



इन्द्र महाराजनें जन्म महोत्सव में कराया, और दीक्षा महोत्सव पै पितादिक ने या इन्द्रादिक ने कराया. परंतु परमेश्वरने निज हाथ से नहीं करा है. और दान तो भगवंत ने निज हाथ से एक करोड़ ८ लाख सो नई या प्रतिदिन १ वर्ष तक दिये हैं. जो एकान्त पाप होवे तो परमेश्वर तीन ज्ञानके धारनहार यह कार्य क्यों करें. या दीक्षा ले के केवल ज्ञान पाये बाद, जैसे संसार के विषय भोगको निषेध किया या स्नान का निषेध किया वैसे दानका भी निषेध क्यों नहीं किया? बल्की गृहस्थावास में तो श्रीभगवान् ने दान एक वर्ष तक दिया और केवलज्ञान उपजे बाद प्रश्न व्याकरण के दूसरा आश्रवद्वार में दान निषेधे उसको झूंठा बोला कहा है. या तीसरे संवरद्वार में दान की अंतराय करे उसको चोरी करने वाला कहा, इस से यह उत्तर भी सूत्र विरुद्ध है, तथा तुह्मारे गुरुजी की प्ररूपणा है कि श्री भगवान् वर्द्धमान स्वामी नें एक वर्ष तक दान दिया जिस से १२॥ वर्ष तक झाझेर दुःख पड़े ऐसी ढाल सुनने में आती है कि ( देवता से लीधा न भिनखाने दीधा, आपतो रहगया कोरारे. दानतणा कर्म उदेह आया. जद वीर में पड़िया फोड़ारे ) इति ।

व्याख्या. देवता से सोनईया ले के मनुष्यों को दिये उस से महावीरजी को फोड़े पड़े, इति, यह कहना भी महा आशातना रूप है. क्योंकि ऐसा लेख किसी सिद्धान्त प्रकरण टीकादिक में नहीं है कि भगवंत ने दान दिया. जिस से फोड़े पड़े. भगवंत को ने पूर्व भव के बंध कर्म भुगते यह कथन कल्प सूत्रादिक में है. और हठ करके कहो कि दानसे ही फो

ड़े पड़े तो श्री १९ मा मल्लीनाथ परमेश्वरने भी वर्षीदान दिया फिर उनको एक प्रहर में ही. केवल ज्ञान क्यों उपजगया. उन को तुह्मारे कहने माफिक कर्म क्यों नहीं बंधे. तिसेस निश्चय जानो कि श्री तिर्थङ्कर भगवान् का वर्षीदान देना. स्नान करने में पानीका कलश ढोलना सरीसा कभी नहीं होता क्योंकि जल ढ़ोलने का श्रान करने का निषेध तो श्रीभगवान ने करा है परन्तु करुणा करके दान देने का निषेध कोइ तीर्थङ्कर परमेश्वरने नहीं करा है ॥ इति ॥

इति प्रत्युत्तर दीपिकायां द्वितियं प्रत्युत्तरं समाप्तम्

प्रश्नोत्तर दीपिका ग्रन्थ के प्रथम भाग के प्रथम खंड का

## शुद्धाशुद्ध पत्र ।

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| १ | १६ | नहाँ | नहीं |
| २ | ९ | दान में | दान देने में |
| " | ११ | श्रद्धा गुरुजी की | गुरु जी की |
| " | १७ | कर करने लगा | करने लगा |
| " | २० | बोलों को | बोलों की |
| ४ | ८ | किथा | किया |
| " | ९ | श्रावकों को | श्रावकों ने तेरापंथी श्रावकों को |
| " | १० | साहत | सहित |
| " | २० | श्रद्धेत | श्रद्धते |
| ६ | ५ | पत्रा | पत्र |
| " | १० | श्रावकों को | श्रावकों की |
| ७ | २० | बंदोवरत | बंदोवस्त |
| ९ | १९ | श्रैर | श्रौर |
| " | २१ | मणिविजे जो | मणिविजे जी |
| १० | १३ | नहाँ रहें | नहीं रहें |
| " | १८ | बह कहें | वह कहें |
| १२ | १३ | मगनलालजी | मगनलालजी ने |
| १३ | १८ | वालं मित्रों | वाल मित्रों |

| | | | |
|---|---|---|---|
| १४ | १३ | आपके श्रद्धा | आपकी श्रद्धा |
| १६ | १८ | उत्तरपत्तकी प्रकिया | उत्तरपत्त की प्रक्रिया |
| १७ | १ लाइन के ऊपर | — | सूचना |
| ,, | १ | पाटकगण | पाठकगण |
| ,, | १२ | पास लिखा है | पास लिखाया है |
| १८ | ६ | नेश्रायक | नेश्रायकी |
| २२ | १८ | प्रदीपिका का | प्रदीपिका को |
| २४ | २४ | तेरहवां | तेरहवां |
| ,, | २३ | देखता | देखना |
| ,, | २४ | सुनिमे | सुनिये |
| २७ | ५ | वावा, | वावा |
| ,, | २१ | फिर जो | फिर नो |
| २८ | २ | सरूपणा | परूपणा |
| २९ | ५ | भाव पें है | भाव में है |
| ३१ | १९ | जागरिस्तत्तथैव | जागरितस्तत्तथैव |
| ३२ | ३ | स्वप्न क्रो | स्वप्न को |
| ३४ | ४ | सुविणं पासइ संवुडा संवुडो | पासइ संवुडो संवुडे |
| ,, | ५ | असंवुड़ा | असंवुड़े |
| ,, | १७ | संवुड़े सुविणं | — संवुडे विसुविणं |
| ३५ | ३ | संवुभा संवुभे | संवुडा संवुडे |
| ३६ | ६ | समोसर | समोसरे |
| ३७ | ७ | आयठीणं | आयट्ठीणं |
| ,, | ११ | आयजियोणं | आयजिइणं |
| ,, | १४ | परिवय पोसहिए | पविय पोसहिये |



| | | | |
|---|---|---|---|
| ,, | २० | णाइ के० | णाहि के० |
| ३८ | १ | वास, के | वासे के० |
| ,, | ३ | पूव्वा के० | पुव्वा के० |
| ,, | १४ | सारीत्तए | सामारीत्तए |
| ,, | २१ | पासित्तये | पासित्तए |
| ३९ | १ | पालवे वाले | पालने वाले |
| ४१ | २ | पौराणिगकी | पौराणिकी |
| ,, | १४ | पूर्ववापर | पूर्वापर |
| ४२ | ११ | यह | इय |
| ४४ | ७ | पुकारान्तु | प्रकारान्तु |
| ,, | २३ | सोटवादिकिस | सो किस |
| ४५ | २१ | तारीफी | तारीफ |
| ४७ | ५ | देतस्स | दंतस्स |
| ,, | ९ | हरिस्स | हरस्स |
| ,, | १५ | निर्हद्ध | निर्बद्ध |
| ४८ | २० | उच्चैर्गोत्र | उच्चैगोत्र |
| ५१ | ४ | नाभ | नेत्र |
| ,, | ६ | ( रागं, | ( एगं, |
| ,, | १६ | व्यतिरिक | व्यतिरिक्त |
| ५३ | ६ | मूलड | मूलउ |
| ,, | १० | तालविसायं | तालपिसायं |
| ५४ | १२ | अपकाम | अपकाय |
| ,, | १६ | अपकाम | अपकाय |
| ५५ | ५ | से जाना | से न जाना |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ५६ | ६ | दानदुगं | दामदुगं |
| ,, | १० | वहावीरे | महावीरे |
| ,, | १८ | पन्नावेइ | पणावेइ |
| ६८ | २३ | महामिथ्यात्व | महामिथ्यात्व |
| ६६ | ११ | परमेश्वर दोष | परमेश्वर पै दोष |
| ७० | १८ | तराणं | तएणं |
| ,, | १६ | रायमट्ठं | एयमट्ठं |
| ,, | २० | तराणं | तएणं |
| ७१ | २ | आपाहिणं | आयाहिणं |
| ,, | ६ | तराणं | तएणं |
| ,, | १५ | जागीका | जागीरका |
| ,, | २० | भगवंत अर्ज | भगवंत को अर्ज |
| ७२ | ५ | नहीं | नहीं |
| ७२ | १० | भगव | भगवत |
| ,, | १४ | विहृतवानिनि | विहृतवानिति |
| ,, | १६ | प्रतिसुराया | प्रतिसुणया |
| ७३ | १० | करते | कहते |
| ७४ | २१ | सोवीपरागे | णोवीयरागे |
| ७५ | १२ | तपादिक | जपादिक |
| ,, | १४ | का | को |
| ,, | १६ | ये | थे |
| ,, | २१ | दश | दशवां |
| ७६ | १० | सरण आके | सरण में आके |
| ,, | २० | तेरे | तेरा |



| | | | |
|---|---|---|---|
| ८१ | १० | कहा | कहो |
| ८२ | १६ | केवलपने | केवलपने |
| ८३ | १७ | राग कथन | राग का कथन |
| ८४ | ६ | अणयारे | अणगारे |
| ,, | ७ | असदहमणो | असदहमणे |
| ,, | १२ | अपनो | उपनो |
| ८५ | ५ | की | का |
| ,, | १५ | रोग | राग |
| ८८ | १८ | का | की |
| ६१ | १४ | जीव | जावे |
| ६२ | २४ | कपाते | पातके |
| ६४ | ६ | का | को |
| ६७ | १२ | गोयगा | गोयमा |
| ६८ | ५ | नें | में |
| ,, | ३८ | कहो | करो |
| ३०१ | १५ | धर्म है | धर्म [illegible] है |
| ३०४ | ६ | क्या, सो | क्या करे सो |
| ३०५ | २० | नहीं | नहीं |
| ३०२ | २० | आपण में | आपणा पे |
| ३३३ | ३ | चाहे | चाहिये |
| ३१२ | ७ | करे ती | करे तो |
| ,, | २० | उद्देश पाठ | उद्देश का पाठ |
| ३३३ | २ | पच्चरकाय | पच्चखाय |
| ,, | १० | ,, | ,, |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३३४ | २ | मोरकत्थंजं | मोखत्थंजं |
| ” | ३ | पभिसेद्धंति | पडिसेद्धंति |
| ” | ५ | मोरकोभाणिउ | मोखांभणिउ |
| ” | १० | मोरकत्थं | मोखत्थं |
| ” | ११ | समरकाउ | समखाउ |
| ” | २२ | भीखधारी | भेखधारी |
| ११६ | २३ | आश्रयी | आश्रयी |
| ११७ | ३ | का भे, | का भेष में |
| ” | १२ | भावा | भाव |
| ” | २० | करी | कही |
| ३३६ | १२ | तो तो | तो |
| ” | १४ | देने | देवे |
| ” | २१ | भाग | भंग |
| १२० | २४ | रूप का | रूप को |
| ” | ” | अव्रती का | अव्रती को |
| १२२ | ३ | सवले | सबले |
| ” | ६ | पवाल | पवाल |
| ” | १० | हणतो | हणे तो |
| ” | २४ | सिंगवेरय | सिंगबेरय |
| १२३ | १ | अनाचारी | अनाचार |
| १२४ | १८ | अद्वा | अद्धा |
| १२५ | ८ | तेत्रीसुमित्र | तेत्रीसमित्र |
| ” | ९ | पावत | जावत |
| ” | १३ | नामक | नायक |